गांधी की दृष्टि

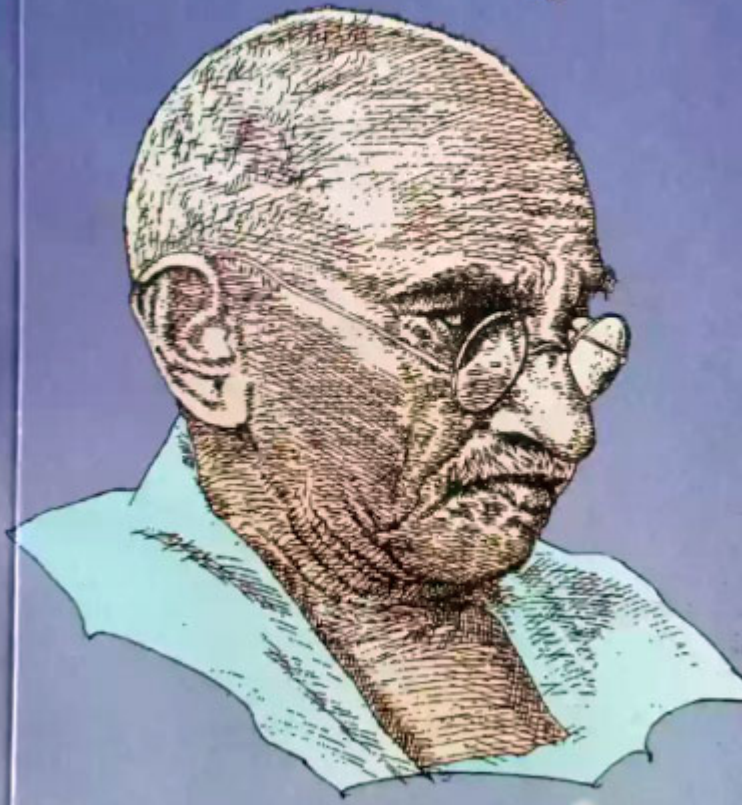

दादा धर्माधिकारी

गांधी की दृष्टि

लेखक :

दादा धर्माधिकारी

संकलन—सम्पादन

तारा धर्माधिकारी

प्रकाशक :

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी-221 001

फोन-फैक्स नं. : 0542-2440385

Email: sarvodayavns@yahoo.co.in

प्रकाशकीय

गांधी मानवीय सांस्कृतिक क्रान्ति का सर्जनहार था। उसने मानव के व्यक्तिगत जीवन और सामूहिक जीवन के संयुक्त परिवर्तन की अभिनव प्रक्रिया खोज निकाली। वह थी एकादश व्रतों का नम्रता और निष्ठा से पालन और अनुशीलन। इससे देश की आजादी के आन्दोलन को शान्तिमय पथ-प्रदर्शन मिला, राष्ट्रीय कांग्रेस का नवीनीकरण हुआ और आम जनता में जागृति और निर्भयता की लहर पैदा हो गयी। गांधीजी के विस्मयकारक, स्फूर्तिदायक और प्रभावशाली नेतृत्व के कारण ही वे अपने पुरुषार्थ से महात्मा बने और अनासक्त कर्मयोग से महा-मानव बने। इस सबकी बुनियाद में उनकी आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दृष्टि थी। गांधी की दृष्टि सत्यमय थी। सत्य ही उनका परमेश्वर था। उनका सारा जीवन सत्य के प्रयोग में बीता । जीवनभर उन्होंने व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियों का साहस से सामना किया। और समय-समय पर उसमें दिखे सत्य को दृढ़ता से स्वीकार किया तथा अहिंसा से उस पर अमल किया। गांधी की दृष्टि सत्य, अहिंसा, निर्भयता, सत्याग्रह आदि मानवीय मूल्यों पर आधारित थी। गांधी अपनी दृष्टि में जिस सत्य को देखते व अनुभव करते थे उसे अक्षर देह के द्वारा आम जनता तक पहुँचाने का और ज्ञानवर्धन करने का काम जिन्होंने किया उनमें दादा धर्माधिकारी का स्थान बहुत ऊँचा है।

आचार्य दादा धर्माधिकारी गांधी-विचार और सर्वोदय-दर्शन के विद्वान् व्याख्याता रहे हैं। उनकी सरल, सुबोध हृदयस्पर्शी भाषा और मनोहारी शैली का 'गांधी की दृष्टि' में पाठक अनुभव करेंगे। दादा 'सर्वोदय' पत्रिका के एक कुशल सम्पादक भी रहे हैं। 'सर्वोदय' में सम्पादकीय टिप्पणियों के लिए 'सर्वोदय की दृष्टि' नाम से एक स्तम्भ था उसमें अधिकांश लेखन दादा का हुआ है, उसी पर से यह संकलन तैयार हुआ है, उसमें गांधी-युग के उन

मौलिक मुद्दों पर तल-स्पर्शी चिन्तन, समीक्षा निर्भयता एवं मुक्तता से व्यक्त हुई है ।'गांधी की दृष्टि' में दादा के क्रियाशील चिन्तन और ज्ञानबोध की सम्पदा प्रकट हुई है। दादा के १८ जून, १९९२ के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में प्रकाशन हेतु उनकी पुत्रवधू श्रीमती तारा धर्माधिकारी ने दादा के उन व्याख्यानों का संकलन तैयार किया है, उसके लिए हम उनके आभरी हैं। 'गांधी की दृष्टि' प्रकाशित कर पाठकों को उपलब्ध कराने में हमें आनन्द हो रहा है। पाठक और चिन्तक इससे अपना ज्ञानवर्धन करेंगे और शोधक अपना जीवन-शोधन कर लाभ उठायेंगे, ऐसी आशा है।

.

भूमिका

१९३३ में गांधी सेवा संघ की स्थापना हुई थी। उद्देश्य यही था कि गांधी-विचार के अनुसार जो काम चल रहे थे उन्हें संगठित किया जाय। गांधीजी ने तरह-तरह की प्रवृत्तियाँ शुरू करवायी थीं। इन प्रवृत्तियों के पीछे सत्य, अहिंसा, स्वदेशी और शरीरश्रम का एक दर्शन था। उस दर्शन की मीमांसा, विवेचन और विकास हो इस विचार से एक पत्रिका की भी जरूरत महसूस होने लगी और १९३८ के अगस्त में 'सर्वोदय' नामक मासिक पत्रिका का प्रारम्भ हुआ। उसके सम्पादक थे स्व. आचार्य काकासाहब कालेलकर और स्व. आचार्य दादा धर्माधिकारी। पहले अंक के सम्पादकीय में दादा ने 'सर्वोदय' की भूमिका का बहुत विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। १९४२ में कुछ स्थिति ऐसी बनी कि 'सर्वोदय' को आर्थिक घाटा होने लगा। मासिक बन्द किया जाय ऐसा लगने लगा। गांधीजी को शायद यह जँचा नहीं। उन्होंने जुलाई में एक खास निवेदन जारी किया पाठकों के लिए जो इस प्रकार था—

हिन्दी भाषा-प्रेमी जानते हैं, कि 'सर्वोदय' मासिक वर्धा से निकलता है। इसके सम्पादक श्री काका कालेलकर और श्री दादा धर्माधिकारी हैं। वैसे तो सचमुच तीन हैं, क्योंकि श्री किशोरलाल भी प्राय: प्रति अंक में लिखते हैं। इस मासिक का उद्देश्य है, सत्याग्रह-शास्त्र की तात्त्विक चर्चा करना और उसके शुद्धतम रूप का प्रचार करना, जिससे सब का-जगत् मात्र का-उदय होवे। पिछले चार वर्ष से यह मासिक निकल रहा है, लेकिन प्रतिवर्ष करीब दो से तीन हजार का घाटा रहता है। इसलिए अब यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है, कि क्या इतना घाटा सहकर भी यह मासिक चलाया जाय ? कई मित्रों की राय है कि घाटा उठाकर भी 'सर्वोदय' जारी रखा जाय। कई कहते हैं कि जब उसकी कद्र उसका खर्च निकलने जितनी भी नहीं है, तो फिर उसे निकालने से फायदा कया ? इन दोनों पक्षों का समर्थन एक हद तक हो सकता है। लेकिन एक मध्यम मार्ग तो यह है कि ग्राहकों से पूछा

जाय। ग्राहक इस घाटे की बात स्पष्ट रूप से नहीं जानते हैं। अगर वे 'सर्वोदय' का निकलना आवश्यक समझते हैं; तो प्रत्येक ग्राहक कम-से-कम एक और ग्राहक बना दे, तभी घाटा मिट सकता है। अभी करीब नौ सौ ग्राहक हैं। दो हजार होने से घाटा मिटेगा। जो ग्राहक नये ग्राहक नहीं बना सकते, वे अगर धनी हैं, तो एक या दो ग्राहकों का चन्दा भेज सकते हैं। कुछ जिज्ञासु किन्तु मुफ्त माँगनेवाले लोग रहा ही करते हैं, वे चन्दा दे ही नहीं सकते। यदि उनका चन्दा देनेवाले कुछ सज्जन मिल जायँ, तो उनको 'सर्वोदय' पहुँच सकता है। 'हरिजन-सेवक' में इस बात का उल्लेख करने का खास मतलब है, कि इससे 'सर्वोदय' के ग्राहकों के अलावा दूसरों को भी घाटे का पता चल सकेगा। 'सर्वोदय' की नीति बिलकुल 'हरिजन' की ही है। लेकिन 'सर्वोदय' में 'हरिजन-नीति' का शास्त्रीय विवेचन किया जाता है, और वह तटस्थता के साथ। ऐसी कोई बात नहीं है, कि सम्पादकों को 'हरिजन-नीति' का अनुसरण करना ही चाहिए। जहाँ तक उनकी बुद्धि जा सकती है, वहीं तक वे 'हरिजन-नीति' का प्रचार करते हैं। और क्योंकि प्राय: वे 'सर्वोदय' को तथाकथित राजनीति से अलग रखने की चेष्टा करते हैं, इसलिए 'हरिजन' यदि खतरे में पड़ जाय, तो भी 'सर्वोदय' बच जाय और उसकी मारफत लोगों को कुछ तो खुराक मिला करे, ऐसा भी लोभ 'सर्वोदय' निकालने में रहता है। लेकिन १९४२ के अगस्त में ही 'भारत-छोड़ो' आंदोलन में सभी नेताओं को-दादा को भी बंदी बनाया गया। 'सर्वोदय' भी बन्द हुआ। १९४५ में जेल से रिहाई हुई। सर्वोदय फिर से चालू करने की माँग होने लगी। विचार पक्का होते-होते १९४९ साल आया। अब की बार विनोबाजी को सम्पादन का जिम्मा सौंपा गया और दादा कार्यकारी सम्पादक रहे।

'सर्वोदय' में सम्पादकीय टिप्पणियों के लिए 'सर्वोदय की दृष्टि' नाम से एक स्तंभ चलाया जाता था। विनोबाजी, काकासाहब और दादा इस स्तंभ के लिए लिखते थे लेकिन अधिकतर लेखन दादा ने ही किया। दादा की लिखी इन टिप्पणियों का ही यह संकलन है।

दादा गांधी-युग की श्रृंखला की उन अंतिम कड़ियों में से थे, जिन्होंने गांधीजी के जाने के बाद भी उनके अभिनव क्रांति विचार को जीवित रखा। दादा एक क्रियाशील तत्त्वचिंतक और समीक्षक थे। उनके समग्र विवेचन में मानवीय मूल्यों का तलस्पर्शी और व्यापक संदर्भ हुआ करता था। मौलिक मुद्दों के अद्भुत और सुबोध प्रस्तुतिकरण में उनकी अपनी विशेषता थी। विचार देने की अपेक्षा विचार करने की शक्ति जागृत करने पर उनका अधिक जोर रहता था। इसी दृष्टि से समाज-प्रबोधन का रास्ता उन्होंने अपनाया था। यह कार्य कलम और भाषणों द्वारा वे करते रहे।

परतंत्रता का युग था। निर्भयता से कलम चलाना इतना आसान नहीं था। विशेषत: अंग्रेज सरकार के नीति-नियमों और आचरण की आलोचना करना बहुत ही कठिन कार्य था। इसके लिए बुद्धि, लेखनकौशल्य और विचारों की स्पष्टता की जरूरत थी। दादा ने ये सारे गुण आत्मसात् किये थे। 'सर्वोदय' के सम्पादकत्व में दादा एक 'पत्रकार' के रूप में उभर आये। 'सर्वोदय की दृष्टि' में दादा ने अपनी अनोखी शैली में विविध विषयों पर लेखन किया।

इस ग्रंथ में संग्रहीत 'रामराज और हरामराज' लेख में दादा कहते हैं –

"सर्वोदय का उद्देश्य संसार को मनुष्य के नाप का, मनुष्य के जीने के लिए और फलने-फूलने के लिए अनुकूल बनाना है। मनुष्य के लिए से मतलब किसी एक मनुष्य के लिए या अधिक से अधिक मनुष्यों के लिए नहीं। मनुष्य के लिए यानी हरएक मनुष्य के लिए, सब मनुष्यों के लिए। उपयोगितावादी मिल ने कहा– "हमारा उद्दिष्ट अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख है।" सर्वोदय के प्रवक्ता गांधी ने कहा, "नहीं-नहीं। हमारा उद्दिष्ट सभी मनुष्यों की अधिक से अधिक भलाई है।"

इस तरह दादा ने गांधी-विचार की मौलिकता और विशेषता समझाने की कोशिश इन टिप्पणियों में की है। सर्वत्र संप्रदायवाद, जमातवाद का विष फैला हुआ था, शस्त्रास्त्रों की आवाज खनखनाती थी, मनुष्य मनुष्य का ही बैरी बनने में जीवन की कृतार्थता मान रहा था। ऐसे समय में गांधीजी की मानवनिष्ट विचारप्रणाली का आधार लेकर अपनी बातें लोगों को समझाने में दादा ने अपनी शक्ति उड़ेल दी। इस देश को 'कलिभूमि' बनने से बचाना है तो सहजीवन–सभी भाषाओं, वर्णों और मजहबों के लोगों का संयुक्त जीवन यही एकमात्र उपाय है, यह गांधीजी का दर्शन था और दादा उसे बहुत ही मानते थे। इसी की व्याख्या दादा के लेखन में जगह-जगह पढ़ने को मिलेगी।

आज दुनिया की महासत्ताएँ संघर्ष टालने के लिए उद्युक्त हैं। विश्वशान्ति का मार्ग खोज रही हैं। अण्वास्त्रमुक्त और हिंसाचाररहित दुनिया देखने की उनकी आकांक्षा हो रही है। फ्रेंच क्रांति और रशियन क्रांति ने दुनिया को नया मोड़ दिया था! वे ही देश अब अहिंसा का और शान्ति का रास्ता चलना चाह रहे हैं। दादा के शब्दों में भी यही व्यक्त हुआ है जब वे कहते हैं कि शस्त्रस्पर्धा और विचारधारा के सैनिकीकरण से जागतिक विकास और आवागमन की गति अवरुद्ध हो गयी है और विश्वशान्ति लाने के लिए अण्वास्त्रमुक्त नयी दुनिया बनाना अनिवार्य हो जायगा। और आज रूस के गोर्बाचोव कह रहे हैं कि हमारा समाजवाद एक नयी 'मानवता' का आयाम खोजना चाहता है और वहाँ मानव का उच्च सांस्कृतिक तथा नैतिक आदर्श देखने को मिलेगा। इसलिए साफ है कि गांधीजी का बतलाया हुआ रास्ता ही विश्वशांति की तरफ जानेवाला मार्ग है। दादा के शब्दों में गांधीजी 'सर्वतोमुखी क्रांति का प्रवर्तक' सिद्ध हुए हैं।

ये सारी टिप्पणियाँ अध्येताओं की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पत्रकारिता का एक विशेष नमूना इस लेखन में से व्यक्त हुआ है। निर्भय, ध्येयनिष्ठ, अभ्यासू पत्रकारिता की गांधीजी की परिकल्पना को दादा ने काफी हद तक चरितार्थ किया है। पत्रकारिता के लिए

अत्यन्त आवश्यक ऐसी तत्त्वनिष्ठा, तटस्थता और सत्यशोधन–ये सारे गुण दादा की पत्रकारिता में से झाँक रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। आशा है, पाठकों को, खासकर तरुण पत्रकार, अध्येता और विचारकों को इन टिप्पणियों में से काफी कुछ मिलेगा।

इन्हीं अभ्यासकों की सेवा में यह ग्रन्थ उपस्थित है।

– तारा धर्माधिकारी

सम्पादकीय

सत्याग्रह के सिद्धान्त के आधार पर गांधीजी ने इस देश में अनेक प्रवृत्तियाँ चलायी हैं। ये सब मिलकर एक खासी बड़ी जीवनव्यापी संस्कृति का स्वरूप धारण करने जा रही हैं। सत्य, अहिंसा, स्वदेशी और शरीरश्रम इस संस्कृति के आधारभूत सिद्धांत हैं और उसके द्वारा समाज के सभी वर्गों का, जातियों का और व्यक्तियों का 'उदय' —अभ्युदय होनेवाला है, ऐसी उसकी श्रद्धा है। निर्भय सत्य का सिद्धान्त परम मंगलकारी—कल्याणकारी होने से, उसके आग्रह के कारण किसी का भी अहित होना असम्भव है। सत्य में सबकी भलाई करने की शक्ति भरी हुई है।

संस्कृति के मानी ही है जीवन की शुद्धि और समृद्धि। 'संस्कृति' हमारी भाषा का अत्यन्त व्यापक शब्द है। जीवन के किसी भी पहलू को वह नहीं छोड़ता। ऐसी जीवनव्यापी संस्कृति का एक सर्वव्यापी किन्तु निजी दर्शन भी होता है। गांधीजी ने जिसे चालना दी है उस संस्कृति के मूल में जो दर्शन है, उसकी मीमांसा, विवेचन और विकास करने के लिए 'सर्वोदय' का प्रारम्भ है।

गांधीजी की जितनी प्रवृत्तियाँ आज चल रही हैं उनके संगठन के लिए स्थापित गांधी सेवा संघ के संकेत से 'सर्वोदय' शुरू किया जा रहा है। गांधीजी की चलायी हुई सब प्रवृत्तियों का बयान इसमें आयेगा। फिर भी इसे गांधी सेवा संघ का अधिकृत 'गजट' कोई न समझे। यह तो गांधीमत,गांधी-सिद्धान्त या गांधी-प्रवृत्ति की अपनी-अपनी दृष्टि से सांगोपांग मीमांसा करनेवाले विचारकों और लेखकों का एक 'सत्संग' है । इसमें आनेवाले लेखों और विचारों की जिम्मेवारी लेखकों की ही होगी। गांधी सेवा संघ की ओर से किसी विषय पर निर्णय देने की यहाँ कल्पना नहीं है। किन्तु गांधीजी के सिद्धान्तों के प्रति जिनके मन में आस्था और आदर है, ऐसे लोग जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं की तरफ किस दृष्टि

से देखते हैं, उनके विषय में किस प्रकार सोचते हैं, और कैसे चलते हैं, यही यहाँ पर बताया जायगा।

'सर्वोदय' में खासकर गांधीजी के सिखाये हुए सिद्धान्तों की चर्चा और मीमांसा आयेगी। उनको अमल में लाते हुए उन सिद्धान्तों की कौन-कौन सी मर्यादाएँ रखनी पड़ती हैं, यह यहाँ पर देखा जायगा। देश-सेवा के लिए जो अनेक संस्थाएँ इस देश में कार्य कर रही हैं, उनके कार्य का परिचय कराना, उसका समाज पर क्या परिणाम हुआ इसकी शास्त्रीय दृष्टि से जाँच करना यह भी 'सर्वोदय' का एक काम है। आज तक हुए अनेकानेक आन्दोलनों का इतिहास लिखना भी गांधी साहित्य की दृष्टि में बहुत जरूरी हो गया है। गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुकूल देश-विदेश में जो स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ चल रही हों, उनका भी अध्ययन हमें करना होगा। अब तो मनुष्य जाति का भविष्य दो-चार भिन्न-भिन्न दर्शनों द्वारा ही निर्माण हो रहा है। इसलिए सर्वत्र सावधान रहकर इन दर्शनों के मानी क्या होते हैं, हरएक की शक्ति कितनी है, हरएक में कौन-कौन सी विकृतियाँ आ सकती हैं, और उनसे बचने के लिए कौन-कौन से उपाय काम में लाये जा सकते हैं, आदि सारी बातों का विचार संसारभर के विचारकों को करना पड़ेगा। प्राचीन काल से सभी धर्मों के ऋषि मनुष्यजाति के आत्यन्तिक कल्याण का ही विचार करते आये हैं। परन्तु आज मनुष्यजीवन जितना जटिल, जितना परस्परसंलग्न और अविभाज्य हो गया है उतना शायद पहले कभी नहीं था। इसलिए उन ऋषियों के उन्हीं प्राचीन सिद्धान्तों को अब ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से परख कर उनका नया संस्करण बनाना होगा। मनुष्यजाति की समस्याएँ इतनी जटिल हो गयी हैं कि आज तक के सर्वमान्य सिद्धान्तों के विषय में भी बड़े-बड़े विचारक तक सशंकित हो गये हैं। नीति, सदाचार, त्याग, प्रेम आदि सिद्धान्त केवल उपदेश के लिए हैं, दुनिया तो भौतिक सामर्थ्य के संगठन से ही चलती है, इस मत का प्रचार जोरों से हो रहा है। हर मनुष्य-समाज को अपने ही स्वार्थ का विचार करना चाहिए; जीवित रहना, दूसरों

पर विजय पाना, और जो कुछ ऐश्वर्य प्राप्त हो, उसी में मशगूल रहना, इससे बढ़कर जीवन का कोई उद्देश्य ही नहीं रह गया है। समस्त मनुष्यजाति के लिए न तो कोई आशा है, न कोई उसके प्रति जिम्मेवार है, और न उसके सामने कोई भविष्य ही है। ऐसी श्रद्धा या अश्रद्धा से आज की दुनिया चल रही है। दर्शनाभाव के इस रेगिस्तान में चरित्र के बीज बोकर जीवन का नन्दनवन निर्माण करना यही आज का 'सत्पुरुषधर्म' है। इस सत्पुरुषधर्म के लिए 'सर्वोदय' प्रस्तुत हुआ है । जब तक उसको और उसके पाठकों को यह प्रवृत्ति हितकर मालूम होगी तभी तक वह इस कार्य को करेगा। यह कोई एक या दो आदमियों की प्रवृत्ति नहीं है। यह तो सहयात्रियों की 'गोष्ठी' है। यहाँ विचार-विनिमय, शंका-समाधान, सूचना-प्रकाशन, और श्रद्धा-वृद्धि के उद्देश्य से ही सेवा की जायेगी।

आज तक इस देश में अनेक दर्शन प्रचलित हुए और उनमें झगड़े भी कुछ कम नहीं हुए। यहाँ तक कि 'शास्त्रार्थ' शब्द का मतलब ही वाद-मल्लों के झगड़े हो गया है। अन्त में जाकर एक ऐसा दर्शन उत्पन्न हुआ जिसने यह कहा कि हरएक दर्शन स्वभाव से ही एकांगी होता है, इसलिए दर्शन कहलाने लायक कोई भी दर्शन सर्वथा असत्य नहीं हो सकता। जब लोग अपने अनुभव का मंडन करते हैं तब तो वे हक में होते हैं, लेकिन जब दूसरों का खण्डन करते हुए उनके अनुभवों का मनमाना अर्थ निकालते हैं तो अन्याय करते हैं। सच तो यह है कि शास्त्रार्थ या वाद-विवाद सत्य की प्राप्ति का उपाय ही नहीं है। वाद-विवाद तो तभी तक उपयोगी हो सकता है, जब तक हमें अपनी बात दूसरों पर स्पष्ट करने की जरूरत जान पड़े या दूसरों की बात भलीभाँति समझने की आवश्यकता प्रतीत हो। वाद-विवाद के द्वारा दूसरों को प्रत्यय दिलाने की आशा रखना व्यर्थ है। प्रत्यय तो एकान्त में बैठकर मनन करने से या प्रत्यक्ष अनुभव से होता है। सत्य चीज ही ऐसी है कि जो सत्यपरायण व्यक्ति के सामने अपना रूप आप ही प्रकट कर देती है। इसलिए किसी भी प्रकार की बहस चलाना 'सर्वोदय' का उद्देश्य नहीं है। हम अपनी बात कहकर सन्तोष मानेंगे। दूसरों का कहना ध्यान और

आदर से समझने की कोशिश करेंगे। जहाँ हमें शंका होगी वहाँ उसे प्रकट करेंगे। परन्तु शुरू से आखिर तक हमारी भूमिका एक 'जिज्ञासु साधक' की ही रहेगी। जो हमसे सहमत नहीं हैं वे भी 'तत्त्व जिज्ञासु' हैं। उनकी देशभक्ति किसी प्रकार कम नहीं है। उनके प्रति आदरभाव रखना हमारा धर्म है। यही नहीं वरन् सत्यप्राप्ति का यही एकमात्र मार्ग है, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इसलिए जिन्हें केवल वाद-विवाद में ही दिलचस्पी है और दलबंदी करके प्रतिपक्षियों को परास्त करने की ही युयुत्सा है, वे 'सर्वोदय' को अपना क्षेत्र न मानें। किसी बीमार आत्मीय की चिकित्सा करने के लिए जब चार वैद्य या डॉक्टर इकट्ठा होते हैं तो वे रोगी के हित का ही ख्याल रखते हैं न कि अपने श्रेष्ठत्व का। और फिर भी जिसको जो चिकित्सा शुद्ध और पर्याप्त मालूम पड़े उसी का वह आग्रह रखता है और फिर सिफारिश करता है। यही 'सर्वोदय' की भी निष्ठा है। यहाँ दूसरों के दर्शन या अनुभव के खंडन से मतलब नहीं है। अपनी निष्ठा, कारणों सहित व्यक्त करने से सन्तोष है।

"एष व: पन्था: सुकृतस्य लोके"

अगस्त, १९३८

संक्षिप्त-परिचय

नाम : शंकर त्र्यंबक धर्माधिकारी, दादा धर्माधिकारी के नाम से सुपरिचित।

वंश : मुलतापी, जिला बेतूल (मध्य प्रदेश) के धर्माधिकारी परिवार में जन्म। सुशिक्षित एवं विद्वता से पूर्ण, विशेष तौर पर वेदान्त विद्या से भली-भांति परिचित परिवार।

पिता : स्व. श्री टी. डी. धर्माधिकारी । प्राचीन सी. पी. एवं बरार के अतिरिक्त एवं सेशन जज । अपने सेवा-काल में न्याय-प्रियता एवं स्वच्छता के लिए विख्यात। सन् १९३५ में देहावसान।

जन्म तिथि एवं जन्म स्थान : १८ जून, १८९९ को मुलतापी, जिला बेतूल, मध्य प्रदेश में।

शिक्षा : इन्दौर क्रिश्चियन कालेज, इन्दौर एवं मॉरिस कालेज, नागपुर में शिक्षा प्राप्त। गांधीजी द्वारा चलाये गये असहयोग आन्दोलन में कालेज की द्वितीय वर्ष की पढ़ाई छोड़कर आन्दोलन में सम्मिलित हुए। तब से अन्त तक किसी भी शिक्षण संस्था में प्रवेश नहीं किये। एक सात तक श्री शंकराचार्य के वेदान्तिक कृतियों का गहन अध्ययन।

विवाह : श्रीमती दमयन्तीबाई धर्माधिकारी से विवाह । श्रीमती दमयन्तीबाई ने व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन एवं १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भाग लिया एवं दो बार जेल-यात्रा।

रुचि : विशेष माने में कोई खास रुचि नहीं। प्रान्त की प्रमुख राष्ट्रीय शिक्षण संस्था, तिलक विद्यालय, नागपुर में सन् १९३१ से १९३५ तक अध्यापन। सन् १९३५ से १९४६ तक गांधी सेवा संघ से सम्बद्ध होकर बजाजवाड़ी, वर्धा में रहे। १९३८ से १९४३ तक 'सर्वोदय' हिन्दी पत्रिका का सम्पादन। १९४६-४७ में प्रादेशिक विधान-सभा और संविधान-सभा के

सदस्य रहे। सर्वोदय आन्दोलन से सम्बद्ध। कालड़ी (केरल) सर्वोदय सम्मेलन के अध्यक्ष रहे। हिन्दी साप्ताहिक 'भूदान यज्ञ' के भी सम्पादक रहे।

सामाजिक कार्य : सक्रिय रूप से नवयुवकों एवं विद्यार्थियों के संगठनों एवं अन्य सामाजिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं तथा समाज-सुधार आन्दोलनों से सम्बद्ध रहे। मध्य प्रदेश के राष्ट्रीय युवक संघ के संस्थापक भी रहे।

पद ग्रहण : कार्यालयीय पद-ग्रहण से अनासक्ति। बाध्यतावश सन् १९३१-३२ में नागपुर प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के मंत्री रहे । सर्वोदय सम्मेलन (कालड़ी) केरल के अध्यक्ष भी हुए।

पद्मभूषण या पद्मश्री आदि उपाधियों को भी स्वीकार नहीं किया। नागपुर युनिवर्सिटी की डॉक्टरेट डिग्री को भी स्वीकार नहीं किये।

राजनैतिक सिद्धान्त : गांधीजी द्वारा उपदेशित एवं प्रयुक्त जीवन-दर्शन को ही अपनाया एवं उसी ओर झुकाव रहा। सर्वोदय आन्दोलन से आजीवन सम्बद्ध रहे।

कृतियाँ : 'सर्वोदय' हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में कई लेख लिखे। कुछ भाषणों, पत्रों एवं लेखों के संकलन भी प्रकाशित हुए हैं।

विदेश यात्रा : विदेश यात्रा से सदैव दूर रहे क्योंकि उनके विचार से भारत में ही सब कुछ सीखने के लिए पर्याप्त है। सन् १९६६ में भारतीय दूतावास के निमंत्रण पर नेपाल में व्याख्यान देने के लिए गये। विभिन्न स्थानों पर गये और वहाँ सर्वोदय-दर्शन पर व्याख्यान दिये। गांधी शताब्दी के अवसर पर भारतीय दूतावास के निमंत्रण पर ही १९६९ में पुनः नेपाल-यात्रा एवं गांधी-दर्शन पर विभिन्न स्थानों पर व्याख्यान।

अन्य विवरण : कांग्रेस के प्रत्येक आन्दोलन में भाग लिये एवं १९३०, १९३२ तथा १९४२ में जेल गये। दर्शनशास्त्र के अच्छे विचारक एवं वक्ता। हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती एवं अंग्रेजी आदि भाषाओं से सुपरिचित। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा अहमदाबाद सत्र में अपने हिन्दी साहित्य के योगदानों के लिए 'गांधी पुरस्कार' से पुरस्कृत। मानवता एवं राष्ट्रीयता के लिए सच्चे समर्पित गांधीवादी । गांधी-विचार के अध्ययन, मनन एवं प्रचार में सतत संलग्न तथा सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं में गांधी-विचार से ही समाधान के पक्षपाती रहे।

निधन : १ दिसम्बर, १९८५ को सेवाग्राम, जिला वर्धा में।

विषय-सूची

१. गांधी-विचार

१. गांधी-विचार की मौलिक विशेषता, २. राजकारण या सद्गुण-संवर्धन ३. गांधीजी की शिक्षा-योजना, ४. अद्भुत अनासक्ति, ५. सजीव और निर्जीव श्रद्धा, ६. सर्वतोमुखी क्रान्ति का प्रवर्तक, ७. प्रेमवृत्ति की गहन गति, ८. गांधीत्व क्या है?, ९. गांधीवाद के ठेकेदार, १०. रामराज और हरामराज ।

२. राष्ट्रीयता

१. जाति या वर्ग-निष्ठ शिष्टाचार, २. राष्ट्रीयता पर रामानन्द बाबू, ३. विधायक और व्यावर्तक राष्ट्रीयता, ४. राष्ट्रीय सप्ताह की विशेषता, ५. ब्रिटिश सत्ता का समर्थन, ६. सार्वत्रिक अविश्वास का प्रतिबिम्ब, ७. आत्मरक्षा की दोहरी समस्या, ८. शुद्धिकरण की पुकार ।

३. सत्याग्रह

१. एक स्वाभाविक शंका, २. शुद्ध सत्याग्रह का परिणाम, ३. अहिंसा-आग्रह-रहित सत्याग्रह, ४. सत्याग्रह बनाम निःशस्त्र प्रतिकार, ५. जुर्माना अदा करने की नीति, ६. जकातदारजी का उदाहरण, ७. सत्याग्रहियों पर इलजाम, ८. सेवा क्षेत्र या निर्वाचन क्षेत्र?, ९. सत्याग्रह का विधायक स्वरूप ।

४. जनतंत्र

१. राजसत्ता का आधार, २. भारतीय लोकराज्य का शुभारंभ, ३. गुण्डाशाही की चुनौती, ४. जनतंत्र की शुद्धता के लिए, ५. विधायक बुद्धि की चुनौती, ६. रामराज्य के राम, ७. हरएक का अपना-अपना राज, ८. सार्वत्रिक संकल्प की सामर्थ्य ५, ९. मतयाचना या मत परिवर्तन, १०. आगामी चुनाव और विचारों की उलझन, ११. चुनाव में सर्वसामान्य और अनिवार्य कसौटियाँ, १२. जनता के सत्व का परिपोष, १३. त्रावंकुरकुचीन का रहस्य, १४. हृदय परिवर्तन और कालावधि की मर्यादा, १५. स्वतंत्रता का मूल्य ।

५. अन्तर्राष्ट्रीय

१. यूनो की सालगिरह, २. यूनो की नीयत पर शक, ३. यूनो की वर्षगाँठ, ४. गृहयुद्ध विश्वयुद्ध में परिणत न हो, ५. युद्धवाद का मूल स्त्रोत, ६. ऐटली की जगह चर्चिल, ७. विश्वशान्ति का मखौल, ८. छोटे राष्ट्रों की दुर्दशा, ९. जागतिक शान्ति पाठ की वास्तविकता, १०. बेरिया काण्ड, ११. कश्मीर का मामला , १२. विश्वशान्ति का मार्ग , १३. स्वागत ।

६. सर्वोदय के प्रणाम

१. गांधी विचार

१. **गांधी-विचार की मौलिक विशेषता**

२. **राजकरण या सद्गुण-संवर्धन**

३. **गांधीजी की शिक्षा-योजना**

४. **अद्भुत अनासक्ति**

५. **सजीव और निर्जीव श्रद्धा**

६. **सर्वतोमुखी क्रांति का प्रवर्तक**

७. **प्रेमवृत्ति की गहन गति**

८. **गांधीत्व कया है ?**

९. **गांधीवाद के ठेकेदार**

१०. **रामराज और हरामराज**

१. गांधी-विचार की मौलिक विशेषता

काका साहब ने एक बार कहा था कि "गांधीवाद और समाजवाद समानान्तर (पैरेलल) प्रवृत्तियाँ हैं। हम समाजवादियों को अपना प्रतिस्पर्धी भले ही मानें लेकिन प्रतिपक्षी नहीं मानते।" गांधीवाद और समाजवाद का जैसे-जैसे विकास होता जा रहा है वैसे-वैसे इन दोनों के एक-दूसरे के निकट आने के चिह्न दिखायी देते हैं। कुछ समाजवादी अपने-आपको (लेफ्टिस्ट) 'बायीं तरफवाले' और दूसरों को (राइटिस्ट) 'दाहिनी ओरवाले' कहते हैं। इसलिए कुछ लोग उन्हें 'वाममार्गी' और दूसरों को 'दक्षिणमार्गी' भी कहते हैं। लेकिन गांधीजी की दृष्टि की यह खासियत है कि वह हमेशा समानता या मेल-मिलाप ही खोजती है और उसी पर जोर देती है। विवाद की अपेक्षा उसे संवाद अधिक प्रिय है; क्योंकि उसकी जड़ अहिंसा है । इसलिए गांधीजी की दृष्टि से समाजवादियों को और गांधीवादियों को एक-दूसरे से हमकदम होने की कोशिश करनी चाहिए। इसीमें देश का श्रेय है। समानान्तर रेखाएँ चाहे अनन्त में जाकर मिलें या कतई न मिलें, परन्तु हमारे देश के हित के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि गांधीवादी और समाजवादियों का झुकाव एक-दूसरे से अधिक से अधिक मेल करने की तरफ रहे। इस विधायक दृष्टि से प्रयत्न कुछ समाजवादी नेता कर रहे हैं, यह एक शुभ चिन्ह है। इस दृष्टि से लगभग दो वर्ष पहले बाबू सम्पूर्णानन्द ने एक लेख 'विशाल भारत' में लिखा था, और पिछले दिनों, ता. १ दिसम्बर १९३८ को पूना के 'विद्यार्थी सप्ताह' में श्री एम. आर. मसानी ने एक व्याख्यान के बाद हाल ही में उन्होंने एक लेख लिख कर गांधीजी से पूछा है कि क्या वे दरअसल सम्पत्ति की सामाजिक मालकियत के हामी हैं ? श्री मसानी की राय में गांधीजी और समाजवादियों में अगर कोई मौलिक भेद है तो इसी प्रश्न पर है। उनके प्रश्न का उत्तर हम गांधीजी के लिए छोड़ देते हैं; वह हमारा काम नहीं है। श्री मसानी ने अपने व्याख्यान में 'गांधीवाद और समाजवाद' के साम्य और भेद की जो मीमांसा की है उसकी थोड़ी समीक्षा यहाँ की जाती है।

श्री मसानी ने 'गांधीवाद' और 'समाजवाद' में खासकर तीन बातों में भेद बताया है : (१) समाजवादी खानगी सम्पत्ति के विरोधी हैं और गांधीजी तथा हिटलर उसके पक्षपाती। (२) गांधीजी सारी बुराई की जड़ यंत्रों को मानते हैं और वर्ग-विग्रह के विरोधी हैं। (३) गांधीजी साध्य की अपेक्षा साधन को श्रेष्ठ मानते हैं।

श्री मसानी अपने आपको वैज्ञानिक समाजवादी कहते हैं और समाजवाद के दूसरे संस्करणों को नकली या अशुद्ध बतलाते हैं। इसलिए उनके मन्तव्यों के विषय में अपने विचार स्पष्ट कर देना हमें आवश्यक मालूम होता है :

(१) गांधीजी खानगी सम्पत्ति के आग्रही नहीं हैं। वे तो 'अपरिग्रह' के सिद्धान्त के पुरस्कर्ता हैं । जहाँ अपरिग्रह है वहाँ खानगी सम्पत्ति कहाँ से आयी ? सम्पत्ति के उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण के अनुकूल वे अपनी राय जाहिर कर चुके हैं । वर्तमान जगत् में जो शोषण जारी है उसका सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण से सदा के लिए कहाँ तक अन्त होगा इसके विषय में उन्हें शंका है। वे मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के अधिक परिणामकारक और टिकाऊ उपाय की खोज में हैं।

(२) गांधीजी यन्त्रों के विरोधी नहीं हैं, बल्कि यन्त्रवाद के विरोधी हैं। यन्त्र मनुष्य को बेकार या निष्क्रिय बनाने के लिए नहीं होने चाहिए । यन्त्रविरोध गांधीवाद का कोई आवश्यक अंग नहीं है। मनुष्य को निठल्ला या निकम्मा न बनाते हुए उसके कार्य को सुकर करनेवाले यन्त्रों के लिए उसमें स्थान है। बड़े पैमाने पर माल की पैदाइश का संसार को आज तक जो अनुभव हुआ है उसके कारण गांधीजी को उस पद्धति के लिए खास आकर्षण या रुचि नहीं है। लेकिन वे शुष्क श्रमवादी, केवल कष्टवादी या निष्फल क्लेशवादी भी नहीं हैं। गांधीजी भी आर्थिक विषमता नष्ट करना चाहते हैं। वर्गभेद उन्हें भी अखरता है। समाजवादी वर्ग-विहीन समाज की स्थापना चाहते हैं। उनकी यह व्याख्या व्यतिरेकी है।

गांधीजी 'वर्ग-विहीन समाज' जैसा निषेधात्मक शब्द प्रयोग न करते हुए "रामराज्य' जैसा विधायक शब्द अधिक पसन्द करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि "मेरे स्वप्न के रामराज्य में राजा और रंक का दर्जा एक ही होगा।" याने राजा भी राम होगा और रंक भी राम होगा। "राम राजा, राम प्रजा, राम साहूकार" होगा। इसीका अर्थ हुआ, न राजा होगा; न रंक होगा और न साहूकार होगा। गांधीजी को वर्ग-विग्रह या अन्य किसी विग्रह का कोई खास शौक नहीं है; और न समाजवादियों को ही होना चाहिए। गांधीजी का मनुष्य-स्वभाव में असीम विश्वास है। वे किसी व्यक्ति को बिलकुल अशोध्य या ला-इलाज नहीं मानते। इसीलिए वे पूँजीपतियों को भी इतना गया-गुजरा नहीं मानते कि उनका सुधार ही न हो सके। फिर भी यदि वर्ग-विग्रह अनिवार्य ही हो तो वे यहाँ भी अपने सत्याग्रह के अमोघ अस्त्र का ही प्रयोग करेंगे।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि खानगी सम्पत्ति, यन्त्रविरोध और वर्ग-भेद के प्रश्नों पर 'गांधीवाद' और 'समाजवाद' में कोई मौलिक या अपरिहार्य भेद नहीं है।

(३) अब श्री मसानी के इस आक्षेप का कि गांधीजी साध्य की अपेक्षा साधन को श्रेष्ठ मानते हैं विचार करना चाहिए।

श्री मसानी वैज्ञानिक और विशुद्ध समाजवाद के अधिकारी प्रवक्ता हैं। गांधीवाद और समाजवाद की मौलिक समानता बताते हुए उन्होंने कहा है कि दोनों की मूल प्रेरणा मनुष्य के प्रति प्रेम में है। यह बिलकुल न्यायसंगत भी है। जब कि समाजवादी समाज में से 'लाभ की प्रेरणा' को हटा देना चाहते हैं और उसके बदले समाजसेवा को प्रेरकशक्ति (इन्सेन्टिव्ह) बनाना चाहते हैं तो मनुष्य के प्रति प्रेम ही उनकी सारी योजना का अवलम्ब हो सकता है। मनुष्य के प्रति प्रेम से एक दूसरा उप-सिद्धान्त अनिवार्यरूप से निकलता है। वह है मनुष्य-स्वभाव में विश्वास, जिसका अर्थ है मनुष्य कौ सत्प्रवृत्ति में विश्वास। इसी

विश्वास का परिणाम गांधीजी का अहिंसा-आग्रह है । वर्ग एक अव्यक्त या अमूर्त भावना है। दरअसल व्यक्तियों के संयोग से ही वर्ग बनता है। इसलिए वे किसी वर्ग या प्रणाली को अहिंसात्मक प्रतिकार का अविषय नहीं मानते।

समाजवादियों को नरमेध या शस्त्रास्त्रों में कोई खास रुचि नहीं है। वे भी प्रचलित मूल्यों को बदलकर मनुष्य के जीवन और श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते हैं। उनका हँसिया और हथौड़ा इसीका प्रतीक है। लेकिन उनका साध्य जैसा विशुद्ध और वैज्ञानिक है, वैसा उनका साधन नहीं है । क्रान्ति के विज्ञान में साधक का भी महत्त्व बहुत बड़ा है। समाजवादियों के साध्य-निश्चय में वैज्ञानिकता है, क्रान्ति है। लेकिन साधन-निश्चय में अभी पुराण-प्रियता और अवैज्ञानिकता है। गांधीजी का साधन-शुद्धि का आग्रह इस बात का सबूत नहीं है कि वे साधन को मुख्य और साध्य को अमुख्य मानते हैं; वरन् इस बात का सबूत है कि वे अपने साध्य के अनुकूल साधन की योजना और संशोधन करना चाहते हैं। जो साधन साध्य के अनुरूप हो वह अधिक प्रत्यक्ष और सीधा होता है। साध्यानुकूल साधन की योजना गांधीजी की क्रांतिकला का प्रधान और अपूर्व अंग है । उनकी यह साधन-निष्ठा उनकी विशेषता है। वे साध्य और साधन को उलझाते नहीं हैं, बल्कि उनमें अभेद देखते हैं । श्री मसानी जैसे वैज्ञानिक क्रान्तिवादी साध्य-साधन के इस अभेद्य सम्बन्ध पर अपनी तर्क-कर्कश दृष्टि से विचार करें तो गांधीजी की साधन-निष्ठा का भेद समझते उन्हें देर न लगेगी। और फिर शायद वे उनके अधिक निकट आने में ही समाजवाद का भी विकास देखेंगे।

बाबू सम्पूर्णानन्द कहते हैं "समाजवाद के लिए गांधीवाद यमुना का अभिनय करेगा" और श्री मसानी कहते हैं "गांधीवाद ने समाजवाद के लिए सोपान का काम दिया है।" कौन गंगा है और कौन यमुना है, इस झगड़े में न सार है और न प्रतिष्ठा। गांधीजी और दूसरे क्रान्तिवादियों में सबसे महत्त्व का भेद 'साध्य-साधन-विवेक' के विषय में है। गांधीजी

ने साध्य के अनुरूप साधन का आविष्कार और प्रयोग करने का पुरुषार्थ दिखाया है। इसीलिए उनकी क्रान्तिप्रणाली में व्यक्तिगत अनुष्ठान का बहुत बड़ा महत्त्व है।

लेकिन ये और इस प्रकार के दूसरे भेदों का विचार यहाँ पर अप्रस्तुत होगा। समाजवादियों में और गांधीजी में जो मौलिक भेद है वह साधनैक-निष्ठा का है। उसके अतिरिक्त दूसरे सारे भेद गौण हैं। श्री मसानी ने अपने भाषण में यह बात बड़े स्पष्ट शब्दों में मान ली है कि हिंसक क्रान्ति के बाद फासिस्ट प्रवृत्ति जोर पकड़ती है। अहिंसक क्रांति की ओर बढ़ते हुए झुकाव का यह प्रसाद चिह्न है। समाजवादी भी तलवार को मियान में रखकर एक दिन उसका हल बनाने के पक्षपाती हैं। उनकी युद्धनीति में भी हिंसा आपद्धर्म है। गांधीजी में और उनमें सबसे बड़ा साम्य इसी बात में है। तलवार के स्थान पर उतने ही प्रभावशाली और कार्यक्षम अहिंसक साधन के प्रयोग में हाथ बँटाना समाजवादियों के लिए उपयुक्त ही नहीं बल्कि सुसंगत और सयुक्तिक भी होगा।

हिंसावर्जित समाजवाद गांधी-विचार की ओर दिन पर दिन अधिक झुकेगा और उसीमें अपना सच्चा विकास देखेगा। गांधी-विचार और समाजवाद के दूसरे महत्त्व के भेद भी आज की अपेक्षा कम तीव्र और कम मूलभूत जान पड़ेंगे। क्योंकि दोनों का विकास अभी कुंठित नहीं हुआ है।

ता. १२-१-१९३९

२. राजकारण या सद्गुण-संवर्धन

महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध नेता ने गांधीजी की नीति की बड़े कठोर शब्दों में आलोचना करते हुए कहा था कि जब से गांधीजी कांग्रेस में आये हैं तब से वह अपने मूल उद्देश्य को भूल गयी है। अब वह कोई राजकीय संस्था नहीं रही। लोगों में सद्गुण-विकास करने का काम स्वीकार कर उसने अपने-आप को एक 'अनुशीलन समिति' में बदल दिया है। लेकिन आज चारों ओर से कांग्रेस के शुद्धिकरण की पुकार सुनकर शायद वे भी गांधी-नीति की दूरदर्शिता और उपयुक्तता को स्वीकार करेंगे । राजकीय नीतिज्ञता के अभाव के कारण हमारा देश गुलाम नहीं हुआ। हमारा असली मर्ज है सार्वजनिक चरित्र का अभाव, सामुदायिक नीतिमत्ता कौ कमी । जब तक सामुदायिक जीवन परिशुद्ध और समर्थ नहीं होगा तब तक राजनीतिज्ञों की सारी चतुराई किसी काम की नहीं। जो लोग सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का मजाक उड़ाते हैं और उन्हें लौकिक व्यवहार के लिए निरुपयोगी बताते हैं, वही आज कांग्रेस में शुद्धिकरण चाहते हैं । उसे अधिकारवादी, अवसरवादी और आतंकवादियों की साजिशों से बचाना चाहते हैं । चाहे देर से ही क्यों न हो, व्यवहारनिष्ट लोग भी सार्वजनिक जीवन में सद्गुण-संवर्धन का महत्त्व समझने लगे हैं ।

'केवल' –वादी और 'समुच्चय' – वादी

यह युग भेदभाव और 'केवल'-वाद का है । 'केवल-शिक्षा,' 'केवल कला,' 'केवल साहित्य,' 'केवल धर्म,' 'केवल नीति,' 'केवल समाज सुधार' 'केवल राजकारण' –ऐसे-ऐसे कई 'केवलवाद' प्रचलित हैं। गनीमत इतनी ही है कि अभी तक कोई 'केवल'-जीवनवादी और 'केवल मृत्युवादी' अपना सम्प्रदाय बनाने की चेष्टा नहीं कर रहे हैं । कांग्रेस में भी कुछ लोग 'केवल राजकारणवादी' हैं और कुछ 'केवल पावित्र्यवादी'। दोनों के मत से कांग्रेस में नैतिकता और धार्मिकता के लिए कोई अवकाश नहीं। राजकारणवादी कहते हैं कि

राजनीति में बरबस नीति और धर्म को मिला देने से व्यर्थ के पचड़े पैदा हो जाते हैं और हमारा उलझा हुआ सार्वजनिक जीवन और भी उलझ जाता है । पावित्र्यवादियों का कहना है कि राजनीति के हीन क्षेत्र में आते ही धर्म और नीति की शुद्धता नष्ट हो जाती है। यह सबल और नकली धर्म मनुष्य की आत्मोन्नति का पोषक नहीं हो सकता। इसलिए धर्म की शुद्धता की रक्षा के लिए उसे अपने ही अलग क्षेत्र में रहने देना चाहिए। दोनों को विभक्त रखने में ही दोनों का विकास है। गांधीजी मानते हैं कि जो राजकारण सार्वभौम नैतिकता और धार्मिकता से परहेज करता है वह सामाजिक जीवन की उन्नति में बाधक सिद्ध होगा और जो धर्म या नीति व्यवहार में नहीं चल सकती वह किसी काम की नहीं। वे सिर्फ इन दोनों का सामंजस्य ही नहीं बल्कि समुच्चय सिद्ध करना चाहते हैं। इसीलिए गांधीजी की राजनीति और अर्थनीति अपूर्व है।

हथियारबन्द कायरता

ऊपर कुछ केवलवादियों का उल्लेख किया है। पुराने जमाने में कुछ केवल युद्धवादी भी थे। जैसे आजकल कुछ लोग 'कला के लिए कला' और 'साहित्य के लिए साहित्य' का प्रतिपादन करते हैं उसी तरह पुराने जमाने में कुछ लोग 'युद्ध के लिए युद्ध' या केवल "कीर्ति के लिए युद्ध' के सिद्धान्त पर चलनेवाले थे। वे युद्ध के लिए और युद्ध के भरोसे जीते थे। यह छात्रधर्म का विकृत स्वरूप था। लेकिन फिर भी वह आज की निकृष्ट लड़ाईखोरी से कहीं बेहतर था। आज के युद्ध में न शौर्य है और न कला । 'भोगैश्वर्यप्रसक्त' समाज का सिद्धान्त 'आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपिधनैरपि' के सिवा और कया हो सकता है? यही भीरुता की चरम सीमा है। समाज में जब मानवता के आदर्शभूत सिद्धान्त की अपेक्षा प्राणों का मूल्य बढ़ जाता है तब वीरता नाम को भी नहीं रह सकती। सिद्धान्त के लिए जान पर खेल जाने का ही नाम तो वीरता है। दुर्बलों की रक्षा के लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगाने का नाम ही तो छात्रधर्म है। लेकिन आज हम यूरोप में क्या देखते हैं ? क्रूरता

और भीरुता का बीभत्स तांडव। हिटलर और मुसोलिनी बड़े व्यवस्थित ढंग से एक के बाद एक छोटे-छोटे राष्ट्रों को गले के नीचे उतार रहे हैं, और नखशिख शस्त्रास्त्रों से सजे हुए बड़े-बड़े राष्ट्र हक्के-बक्के होकर चुपचाप तमाशा देख रहे हैं। छोटे राष्ट्रों की इज्जत से उन्हें क्या वास्ता। हरएक को अपनी जान बचाने की पड़ी है। पहले मानवता की और लोकशाही की रक्षा के नाम पर नरमेध होता था। आज शान्ति के भेष में क्षुद्र प्राण- रक्षण-परायणता इठला रही है। आज जान और माल की कीमत सिद्धान्त से अधिक है । हरएक राष्ट्र लड़ाई टालना चाहता है। इसलिए नहीं कि उसे शान्ति से प्रेम है, वरन् इसलिए कि वह युद्ध से घबराता है। सारे सभ्य संसार में 'जंगल का कानून' चल रहा है। जहाँ भीरुता और क्रूरता का बोलबाला है वहाँ शान्ति कैसे स्थापित हो सकती है ? शरीर 'आद्य धर्म-साधन' भले ही हो, लेकिन है आखिर साधन ही । 'अन्नब्रह्म' भी 'तपोब्रह्म' की अपेक्षा गौण है। ये सिद्धान्त मानवता के विकास के लिए परम आवश्यक हैं। गांधीनीति और अन्य 'केवल' अर्थवादी, रोटीवादी और देहवादी नीतियों में यह मौलिक भेद है। यह पारमार्थिक नीति भूल जाने के कारण ही आज यूरोप में युद्ध का डर युद्ध की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम हो रहा है। हिटलर तो करीब-करीब रक्तपात-हीन विजय की एक नयी सिफत दिखा रहा है। उसका आतंकवाद तहलका मचा रहा है। शान्तिप्रेम का मतलब समरभीरुता या सुरक्षावाद नहीं है।

ऐसी परिस्थिति में युद्ध कुछ दिन के लिए टल भले ही जाय, लेकिन उसका अन्त नहीं आ सकता। आज की असाध्य परिस्थिति पर एकदम नये किस्म के इलाज की जरूरत है। नहीं तो ये सारे राष्ट्र एक न एक दिन डरते-डरते जूझ पड़ेंगे। डरपोकों की खूनरेजी की कोई हद नहीं होती। सयापे का दावा करनेवाले यूरोपीय राष्ट्र यदि दरअसल लड़ाईखोर तानाशाहों के दाँत खट्टे करना चाहते हों, उनकी राज्यतृष्णा का प्रतिकार करना चाहते हों, तो उसका एक ही इलाज है। वह इलाज है गांधीनीति का अनुसरण। अगर एक भी पहली

श्रेणी का राष्ट्र हथियारों को फेंक देने का नैतिक धैर्य बतावे तो दुनिया में चमत्कार हो जायगा, यह कोई हवाई कल्पना नहीं है। वरना आज की परिस्थिति में मर्ज लाइलाज है।

२२-४-१९३९

३. गांधीजी की शिक्षा-योजना

मेरे एक प्रोफेसर-मित्र गांधीजी पर बुरी तरह बिगड़े हैं। वे मुझसे कहने लगे कि "गांधीजी अपनी आदत से बाज नहीं आते। जिस बात में वे जरा भी दखल नहीं रखते उसमें नाहक टाँग अड़ाने का उन्हें बड़ा शौक है। राजनीति में सत्य और अहिंसा का रसायन मिलाकर उसका तमाम मजा किरकिरा कर दिया। अब आप शिक्षा की मिट्टी पलीद करने पर तुले हुए हैं।"

देश के बहुत-से शिक्षा-शास्त्री गांधीजी से इसलिए नाराज हैं कि उन्होंने शिक्षा के सुरक्षित क्षेत्र पर भी धावा बोल दिया है।

दुनिया के लगभग सभी शास्त्री पोथीपण्डित हुआ करते हैं । जो विशेषज्ञ होते हैं वे तो मानो जीवन को महज एक कबूतरखाना ही समझते हैं। उनकी राय में किसी कबूतर को अपना दरबा या खण्ड छोड़कर दूसरे के कमरे में झाँकना तक नहीं चाहिए। गांधीजी की यह खुशकिस्मती है कि वे शास्त्री नहीं हैं और न पण्डित ही हैं। हाँ, अगर शास्त्री हैं भी तो जीवन-शास्त्र के, और पण्डित हैं भी तो जीवन की विद्या के; और कलाकार भी हैं तो जीवन की कला के । इसलिए कबूतरखाने के निवासी विशेषज्ञों से इनकी बहुत कम पटती है।

एक बात और है । गांधीजी एक जबरदस्त सुधारक हैं—क्रान्तिकारी सुधारक हैं। हरएक सुधारक की यह विशेषता रही है कि वह जिस समाज में पैदा होता है उसके कुछ परम्परागत और प्रचलित विचारों तथा संस्थाओं का वह घोर विरोध करता है। इसीलिए तो वह सुधारक कहलाता है । उसके जमाने के पण्डित प्रचलित सिद्धान्तों के और संस्थाओं के अभिभावक होते हैं । इसलिए वे प्रगति-विरोधी होते हैं । दकियानूसी शिक्षा-शास्त्रियों की गांधीजी से जो तनातनी चल रही है उसका भी रहस्य यही है।

मैं कह चुका हूँ कि गांधीजी जीवन के शास्त्री हैं। तो क्या शिक्षा जीवन से कोई अलग चीज है ? क्या आपका शिक्षा-शास्त्र कोई ऐसी विचित्र वस्तु है जिसका मनुष्य के रहन-सहन, खान-पान, काम-धन्धे, कमाई और मनोविनोद से कोई सम्बन्ध ही नहीं है ? तब तो आपकी शिक्षा आप ही को मुबारक हो ! हमें अपने जीवन से तसल्ली है! लेकिन दरअसल बात ऐसी नहीं है। हर्बर्ट स्पेन्सर है तो पुराना शिक्षा-शास्त्री, लेकिन शिक्षा की जो व्याख्या वह कर गया है वह आज भी सही है। उसने कहा है कि शिक्षा का उद्देश्य हमें 'पूरी तरह से जीना' सिखाना है। मतलब यह कि शिक्षा हमारे जीवन को सुन्दर, सम्पन्न, सुखमय और उपयोगी बनाने के लिए है। हमारे सारे राष्ट्र के जीवन को सुन्दर, आनन्दमय और कार्यक्षम बनाने का जिन्होंने बीड़ा उठाया है वे गांधीजी अगर शिक्षा के विषय में बोलने के अधिकारी नहीं हैं तो और कौन हो सकता है ? गांधीजी ने यह कभी नहीं कहा कि मैं एक शिक्षा-शास्त्री की तरह शिक्षा-शास्त्र की हरएक तफसील में मार्ग-दर्शन करूँगा। वे तो इतना ही कहते हैं कि राष्ट्र की मौजूदा हालत में उसका जीवन सुसंस्कृत और सुखी बनाने के लिए जिन मूलभूत तत्त्वों की आवश्यकता है उन्हींको हमें अपनी शिक्षा-प्रणाली का भी आधार बनाना चाहिए। इसलिए आज की राष्ट्रीय शिक्षा वही हो सकती है जो हमें अपने राष्ट्र का स्वावलम्बी, समर्थ और कार्यदक्ष सेवक बनावे।

जीवन और शिक्षण का सम्बन्ध अभेद्य है। बल्कि यों कहिये, कि ये दोनों अभिन्न हैं। जैसे नदी का होना और बहना दो क्रियाएँ नहीं हैं; वैसे ही मनुष्य का जीना और सीखना दो भिन्न क्रियाएँ नहीं होनी चाहिए। इसलिए अगर मनुष्य को जीने में आनन्द आता है, जीवन से प्रेम है, जिन्दगी में रुचि है, तो उसे शिक्षा में भी मजा आना चाहिए । 'शिक्षा मजेदार कैसे बनायी जाये?' यह आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों की खोज का विषय हो रहा है । "बच्चों को खेलने में जितना आनन्द आता है उतना ही सीखने में कैसे आवे ?"—यह समस्या उन्हें परेशान कर रही है। एक कारण तो उनकी समझ में आ गया। जब तक सीखने का मतलब

केवल लिखना-पढ़ना ही है, तब तक—"लिखोगे, पढ़ोगे होगे खराब, खेलोगे, कूदोगे होगे नवाब"—यही बच्चों के जीवन का सूत्र रहेगा। स्कूल को वे कैदखाना समझेंगे, और स्कूल से छुटकारा पाते ही घोड़े के बछेड़े की तरह चौकड़ी भरने में आनन्द मानेंगे। उनके जीवन से जैसे-जैसे शिक्षा का सम्बन्ध बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे उन्हें मजा आयेगा। और तब उनके लिए घर, पाठशाला और क्रीडांगण में कोई फर्क नहीं रहेगा।

शिक्षा का कार्य यह है कि वह हमें आनन्द से जीना और आनन्द से मरना सिखावे। आनन्द से जीने के लिए आनन्द से और बिना दूसरों के रास्ते में रुकावटे डाले पेट भरना भी जरूरी है। आदमीयत की पहचान यही है कि हम इस तरह जियें कि हमारे जीने से दूसरों की जिन्दगी में मदद पहुँचे; कम-से-कम, रुकावट तो न हो। 'जीओ और जीने दो' यह मनुष्यता का अधूरा आदर्श है। 'जीओ और जिलाओ' यह उससे एक कदम आगे है। 'जिलाने के लिए जीओ' यह उसका पूर्ण परिणत रूप है।

जिस प्रकार हमारे जीवन का विकास और पूर्णता दूसरों के जीवन को समृद्ध और प्रसादमय बनाने में है उसी तरह हमें अपने निर्वाह के लिए उद्योग करने में भी समाजहित की उन्नति करना अपना उद्देश्य मान लेना चाहिए। मतलब यह कि, हमारा व्यवसाय भी ऐसा हो जिससे हमारा पेट भरे और समाज की भी उन्नति हो। इसीलिए आजीविका के साधन को 'उपजीवन' कहा गया है। 'उप' मानी 'पास का,' 'निकटवर्ती'। जीवन की सबसे निकटवर्ती चीज है—उपजीवन का साधन। पुराने जमाने में हमारे यहाँ व्यवसाय के लिए दूसरा एक अर्थपूर्ण शब्द था 'वृत्ति'। पेट भरने के लिए मनुष्य जो धन्धा करता है उसका रङ्ग उसके दिल और दिमाग पर भी चढ़ जाता है। इसलिए पुराने जमाने में लोग मनुष्य के धन्धे को उसकी वृत्ति कहते थे। इस मान्यता का आधार एक बड़ा गहन मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है । आदमी दिनभर जो करेगा उसीके अनुसार वह सोचेगा और दूसरों के साथ सलूक करेगा।

जब कि जीवन और उपजीवन का सम्बन्ध इतना नजदीकी है तो शिक्षा में उपजीवन का स्थान प्रधान होना चाहिए, यह कहना कोई मूर्खता नहीं है।

तब सवाल यह उठता है कि "उद्योग-धन्धा सिखाने में तो आज के शिक्षा-शास्त्रियों को कहाँ आपत्ति है ? लेकिन गांधीजी उपजीवन को ही सब कुछ बनाना चाहते हैं। उपजीवन समूचा जीवन तो नहीं है न ? आप तो एक अंश को ही पूर्ण की जगह देना चाहते हैं। कहीं टुकड़ा भी समूचे के बराबर हो सकता है ? क्या पेट ही सब कुछ है ? दिल, दिमाग और आत्मा के विकास का शिक्षा में कोई स्थान ही नहीं ? इसीलिए तो हम कहते हैं कि गांधीजी की तजबीज निहायत अशास्त्रीय है।"

यहाँ पर फिर वही टुकड़े-फरोशी की बात आ जाती है। मनुष्य का हाथ, दिल, दिमाग और आत्मा कोई एक-दूसरे से असम्बद्ध घटक तो नहीं है। हरएक के विकास से दूसरे के विकास में मदद पहुँचती है। बल्कि यों कह लीजिये कि इन सबका विकास एक ही साथ और परस्पर-अविरुद्ध पद्धति से होना चाहिए। शिक्षा-शास्त्र की सिफत और कुशलता इसी में है। गांधीजी की नयी शिक्षा-पद्धति में दस्तकारी और किताबी पढ़ाई का समुच्चय नहीं है। क्योंकि उस हालत में तो फिर भी दिमागी विकास का साधन शब्द ही रहेंगे।

शब्द ही जब तक शिक्षा का माध्यम है तक तक मनुष्य की स्वयंप्रज्ञा का, हृदय का और बुद्धि का वास्तविक विकास नहीं हो सकता। इसलिए शिक्षा का माध्यम कृति होना चाहिए। वह कृति भी ऐसी न हो कि जो केवल खेल हो। अगर जीवन निरी पिसाई नहीं है तो वह महज गुलछर्रे उड़ाना भी तो नहीं होना चाहिए। जो लोग शिक्षा को केवल खेल बनायेंगे वे जीवन से भी खिलवाड़ करेंगे।

जीवन महान् गम्भीर और श्रममय है। बिना श्रम के खेल में भी मजा नहीं आता। नीरोग जीवन और नीरोग दिल का यह लक्षण है कि उसे श्रम में आनन्द आवे। इसलिए वर्धा-

शिक्षा-योजना में उत्पादक-श्रम को, राष्ट्रोपयोगी दस्ताकरी की, शिक्षा का माध्यम बनाने का आग्रह है। बुनियादी तालीम की यही बुनियाद है । उसमें व्यवसाय और शाब्दिक शिक्षा का केवल समुच्चय नहीं है । बल्कि व्यवसाय के द्वारा हृदय और बुद्धि के विकास की योजना है। उपजीवन द्वारा जीवन को सुसंस्कृत और सम्पन्न बनाने का अपूर्व प्रयत्न है।

दिसंबर, १९३९

४. अद्भुत अनासक्ति

इतिहास में दो अद्वितीय उदाहरण हैं—या अतृतीय कह लीजिये—एक नीरो का और दूसरा जनक का। एक अनास्था का उदाहरण है और दूसरा अनासक्ति का। "रोम सुलग रहा है, लेकिन नीरो फिडल बजाने में मशगूल है," यह कहावत बेदर्दी, बेहयाई और बेपर्वाही की द्योतक है। 'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दह्यति,' यह वाक्य अनासक्ति के दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया जाता है। रोम के प्रति नीरो का जो भाव था उसमें, और मिथिला के प्रति जनक का जो भाव था उसमें, जमीन-आसमान का फर्क है।

संस्थाओं के विधान और संगठन को तोड़नेवाले भी दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जो अपनी महत्त्वाकांक्षा और व्यक्तिगत हित के लिए संस्थाओं का नाश करते हैं, और दूसरे वे, जो अपने सिद्धान्त और नीति की रक्षा के लिए संस्थाओं के मोह का त्याग कर देते हैं। पहला उदाहरण निर्ममता का है और दूसरा निर्मोह, वैराग्य तथा मुमुक्षा का। गांधीजी एक उत्कट साधक और मुमुक्षु हैं। इसलिए मालिकान्दा में उन्होंने जो कदम उठाया, वह जनक की श्रेणी में आता है और उनकी अद्भुत अनासक्ति का प्रमाण है।

संस्था-परायणता बनाम प्रगति

हमारा यह अनुभव है कि संस्था के मोहवश तो बड़े बुद्धिमान भी प्रगतिविरोधक हो जाते हैं। राज्य-लोभ, धन-लोभ या सत्ता-लोभ से संस्था-लोभ या संप्रदाय-लोभ किसी कदर कम नहीं होता । इसलिए अक्सर ऐसा पाया जाता है कि संस्था-परायण लोग प्रगति-विरोधी होते हैं । मनुष्य के विकास को नियमित और सुनियंत्रित करना संस्थाओं का उद्देश्य है । जब कोई संस्था अपने अंगीकृत उद्देश्य के अनुसार निर्दिष्ट मार्ग पर प्रगति कराने की शक्ति गवाँ देती है तब उसका विसर्जन करना प्रगति का ही लक्षण है। टेनिसन ने जो कहा है

"Lest one good custom should corrupt the world' (कहीं कोई अच्छी रूढि ही संसार को बिगाड़ न दे) उसका भी यही अभिप्राय है।

संघ का आवरण करते हुए गांधीजी ने कहा कि 'न तो मैं किसी संप्रदाय का हूँ और न कोई संप्रदाय बनाना चाहता हूँ।' पहली बात तो स्पष्ट है। जो स्वयं संप्रदाय-प्रवर्तक होता है, वह भला कैसे किसी संप्रदाय का हो सकता है ? वह तो एक नया उपक्रम करता है। परंतु गांधीजी दूसरों को भी किसी संप्रदाय के अनुयायी नहीं बनाना चाहते । वे तो कहते हैं कि सदाचार के सनातन सिद्धान्तों के आधार पर हरएक को अपना-अपना स्वधर्म पहचान लेना चाहिए और अपने रास्ते पर चलना चाहिए। कुछ लोग यह कहते थे कि गांधीजी के आश्रमों में और संघों में 'गांधीवाद' का निर्जीव कलेवर रह जायगा और बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियों के दांभिक जीवन के इतिहास की पुनरावृत्ति होगी। उनको गांधीजी ने सत्याग्रह-आश्रम और गांधी सेवा संघ का उपसंहार करके बड़ी नम्रतापूर्ण लेकिन माकूल जवाब दे दिया है।

'पूर्णमेवावशिष्यते'

गांधी सेवा संघ का शरीर अब नहीं रहा, लेकिन यह कौन कह सकता है कि गांधी-विचार में विश्वास करनेवालों का परस्पर प्रेम-बंधन टूट गया ? जो समाप्त हुआ वह भी पूर्ण था, जो शेष रह गया है वह भी पूर्ण है।

अप्रैल, १९४०

५. सजीव और निर्जीव श्रद्धा

यह जमाना दुर्बल निष्ठा (वीक कन्व्हिक्शन्स) का है । इसीलिए जिसकी निष्ठा बलवती हो, वह सबको परास्त कर सकता है। कहा जाता है कि यह बुद्धिवाद का और विज्ञान-निष्ठा का युग है। बिना परीक्षण और प्रयोग के किसी सिद्धान्त का स्वीकार करना आज के बुद्धिवादी समाज की शान के खिलाफ है।

हमारा निवेदन है कि बुद्धिवाद और दृढ़निष्ठा में कोई विरोध नहीं है। भगवद्गीता में भगवान ने अर्जुन से, 'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु', कह कर यही ध्वनित किया है। निश्चयात्मक और सम्पूर्ण ज्ञान का ही परिपाक निष्ठा में होता है। अवलोकन और अनुभव से जो असंदिग्ध और समग्र ज्ञान होता है, उसीका नाम निष्ठा या श्रद्धा है। विचारनिष्ठ विश्वास ही निष्ठा है।

प्राय: ऐसा देखा जाता है कि हमारी सत्य, न्याय और प्रेम में श्रद्धा ही नहीं होती। परम्परागत शिक्षा और संस्कारों के कारण हम इन्हें सद्गुण तो मानते हैं, लेकिन हमें यह विश्वास नहीं होता कि सद्‌गुण दुर्गुणों से बलवान है । इसीलिए हमें बार-बार सन्देह होता है और हमारी वृत्ति डावाँडोल होती रहती है। यह बुद्धि-परायणता या विचार-निष्ठा नहीं है। यह बुद्धि का अनिश्चय है। विचार-निष्ठा और सम्यक् निर्णय की अक्षमता, यानी बुद्धि की अनिश्चयात्मकता में जमीन-आसमान का अन्तर है। इसीलिए कहा भी है : 'संशयात्मा विनश्यति'।

जिस विषय में हमारी बुद्धि का पूर्ण निश्चय होता है, उसमें हम संदेह नहीं करते। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि प्रकाश में अंधेरे से ज्यादा शक्ति है, प्रकाश अपने से कई गुना अधिक अंधेरे का नाश कर सकता है। हमें यह भी विश्वास है कि अग्नि में शीत का निवारण करने की अमोघ शक्ति है। ठंड लगते ही छोटा बच्चा भी आग के पास चला जाता है या

आँगन में धूप लेने खड़ा हो जाता है । वस्तु-शक्ति में यह जो संदेह-रहित विश्वास होता है, उसीका नाम निष्ठा है। यह केवल सिद्धांत की बात नहीं है। इस निष्ठा का आधार है अवलोकन, अनुभव और मनन।

देवनिष्ठा या दानवनिष्ठा

क्या हमारा ईश्वर में ऐसा ही विश्वास है ? क्या हम सचमुच यह मानते हैं कि शैतान से ईश्वर अधिक शक्तिशाली है ? अगर दरअसल हमारा ईश्वर में अविचल विश्वास है, तो हम ऐसा क्यों मानते हैं कि शैतान को परास्त करने के लिए ईश्वर को भी थोड़ी देर के लिए शैतान के साधनों को अपनाना होगा ? इसका तो यही अर्थ हुआ कि ईश्वर जब तक शैतान नहीं बनेगा तब तक वह शैतान को हरा ही नहीं सकेगा। मतलब, ईश्वर ईश्वर रह कर शैतान को परास्त नहीं कर सकता। तब तो बलिहारी है शैतान की; न कि ईश्वर की ! इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हम देवनिष्ठ नहीं हैं, दानवनिष्ठ हैं।

सज्जन और दुर्जन प्रकार-भेद

सत्य और अहिंसा पर भी यही नियम घटित होता है। अगर सत्य और अहिंसा केवल सज्जनों के ही परस्पर व्यवहार और विनिमय के साधन हैं तो वे निःसत्व हैं। सत्य और अहिंसा में अगर असत्य और हिंसा पर विजय प्राप्त करने की क्षमता न हो, तो प्रतिष्ठा असत्य और हिंसा की होनी चाहिए, न कि सत्य और अहिंसा की। जब हम यह कहते हैं कि दुष्टता और दगाबाजी का मुकाबला सभ्यता और सचाई से हो ही नहीं सकता, दगाबाजी का सामना दगाबाजी से और झूठ का झूठ ही से करना चाहिए, तब हम यह कबूल कर लेते हैं कि दरअसल सामर्थ्य सचाई और भलमनसाहत में नहीं है, झूठ और दगाबाजी में है। तब तो हममें और दुर्जनों में कोई प्रकार-भेद नहीं रह जाता, केवल आकार-भेद रह जाता है। यह आकार-भेद तो बिलकुल अक्षम्य है। अपनी सभ्यता प्रकट करने के लिए हम इतना ही

कहते हैं कि 'दगाबाजी और दुष्टता की शुरुआत हमारी तरफ से नहीं हुई, हम तो केवल दुष्टता का जवाब दुष्टता से दे रहे हैं । जब हम यह मानते हैं कि दुष्टता का प्रतिकार सज्जनता से हो ही नहीं सकता, तब तो हम भी दुष्टता के ही पुजारी सिद्ध होते हैं। तब फिर हमारा दुष्टता का आरम्भ अपनी तरफ से न करना तो बड़ा भारी अपराध है। जो बलवान तत्त्व है, उसे अपनाने में हमें दूसरे के व्यवहार पर निर्भर क्यों रहना चाहिए?

मतलब यह कि अभी हमारा ईश्वर सत्य, न्याय, प्रेम आदि तत्त्वों की वस्तु-शक्ति में विश्वास नहीं है। समाज का अवलोकन भी हमने उस दृष्टि से नहीं किया है और न प्रयोग करने की ही हिम्मत की है।

प्रयोग-सिद्ध विश्वास

जीवन में सिद्धांत के विनियोग का ही नाम प्रयोग है। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा को 'सत्य के प्रयोग' शीर्षक दिया है, इसका भी यही मर्म है। हमारा ज्ञान जब तक प्रयोग-सिद्ध नहीं होता, तब तक वह निष्ठा के रूप में परिणत नहीं होता।

गांधीजी ने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों को अपने प्रतिक्षण के छोटे-बड़े व्यवहारों में लाने की निरन्तर और उत्कट चेष्टा की है इसीलिए उनकी निष्ठा में और हमारी निष्ठा में—या अनिष्ठा में—बहुत बड़ा अन्तर है । इसीलिए असत्य, हिंसा और दानवता का डरावना और विकराल रूप देखते ही हमारी निष्ठा विचलित और विनष्ट हो जाती है और उनकी उज्ज्वलतर और दृढ़तर होती जाती है। इसीलिए असत्य और हिंसा की बीभत्स लीला की जो प्रतिक्रिया उनके हृदय और बुद्धि पर होती है, उससे हमारे दिल और दिमाग पर कहीं भिन्न होती है।

गांधीजी का यह अबाधित और अव्यभिचारी विश्वास है कि जिस प्रकार प्रकाश अंधकार से बलवान् है, उसी प्रकार असत्य से सत्य बलवान् है, हिंसा से अहिंसा बालवान्

है, अनीति से नीति बलवान् है और शैतान से भगवान् बलवान् है। इसी अनुभवजनित, जीवनगत और विचारनिष्ठ विश्वास का नाम है जीवन्त और ज्वलन्त श्रद्धा।

२७-५-१९४०

६. सर्वतोमुखी क्रांति का प्रवर्तक

आजकल के पढ़े-लिखे और राजनीतिक आन्दोलन में रुचि रखनेवाले लोगों में ज्यादा प्रचलित शब्द कौन-सा है ? मैंने अपने विद्यार्थी मित्र से पूछा। बिना एक पल भी विचार किये उसने जवाब दिया—'क्रांति'। आज हरएक अपने-आप को क्रांतिवादी कहलाने में सर्वतोमुखी क्रांति का पुजारी और पुरस्कर्ता कहलाने में अपनी शान समझता है। सारा वायुमंडल क्रांति के घोष-प्रतिघोषों से गूँज रहा है। परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में समाज पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए होड़ शुरू हो गयी है।

ऐसी हालत में सबसे पहला सवाल यह उठता है कि जिसके नाम से हजारों वक्ता रोमहर्षण भाषण देते हैं और प्रचंड लोकक्षोभ निर्माण करते हैं, वह क्रांति क्या चीज है ? क्या क्रांति का अर्थ केवल एक बहुत बड़ी उथल-पुथल ही है ? यदि संयोग से कल कोई बहुत बड़ी उथल-पुथल हो जाय और दुनिया का सारा नक्शा ही बदल जाय तो क्या वह वास्तविक अर्थ में क्रांति कहलायी जा सकेगी ? हम उसे क्रांति कह सकते हैं, जिसके लिए हम यत्नशील हैं ? आज हम जिस अर्थ में क्रांति शब्द का व्यवहार करते हैं, उसमें पूर्व संकल्प, व्यवस्था और उसकी उपाय-योजना का समावेश होता है। अन्यथा किसी भी आकस्मिक नैसर्गिक दुर्घटना या संयोग को क्रांति कहना होगा। मतलब यह है कि एक खास उद्देश्य को लेकर नियत साधनों द्वारा और नियोजित पद्धति से जो सामाजिक स्थिति में अंतर सिद्ध किया जाता है, उसे क्रांति कहते हैं।

समाज में जो आमूलाग्र परिवर्तन करना चाहते हैं, उसके पीछे एक निश्चित उद्देश्य, उद्देश्य के अनुरूप उपाय-योजना का एक व्यवस्थित क्रम हो, तभी वह क्रांति ज्ञानयुक्त और श्रेयसाधक होगी। अव्यवस्थित लोकक्षोभ और ऊटपटांग आंदोलन से पैदा होनेवाली बगावत क्रांति नहीं है। इस दृष्टि से देखा जाय तो दुनिया में आज दो प्रकार की ताकतों में

और सिद्धान्तों में संघर्ष होता हुआ नजर आता है। इनमें से एक सिद्धान्त है, फासिस्ट या हुकुमशाही का सिद्धान्त । यह स्थूल शक्तिपूजा का आधुनिकतम संस्करण है। दूसरा सिद्धांत है साम्यवादी या नवमतवादियों का। यह भी शाक्तों का ही एक पन्थ है। लेकिन वह शक्ति के आयुधों की उपासना करने के बदले मानवता की प्रतिष्ठा के लिए उसका आवाहन करता है। स्थूल शक्ति के जड़ उपासकों की अपेक्षा इनका मार्ग कहीं अधिक उदात्त और श्रेयस्कर है, इसमें सन्देह नहीं।

इन सिद्धान्तों में से फासिज्म का विचार करना यहाँ प्रासंगिक नहीं है। "बलं वाव विज्ञानाद् भूय: अपि ह ज्ञानं विज्ञानवताम्, एको बलवान् आकम्पयते"—बल को विज्ञान से बड़ा मानो; क्योंकि एक बलवान सौ वैज्ञानिकों को कँपा सकता है—इस भूमिका से ऊपर जिनकी संस्कृति और विचारधारा उठ ही नहीं सकती, उनके तत्त्वज्ञान का विचार करना व्यर्थ है। संसार के मौजूदा प्रतिष्ठित मूल्यों को बदल कर उनकी जगह दूसरे उच्चतर मूल्यों की स्थापना का संकल्प ही जिनके प्रयत्नों के मूल में नहीं है, उनमें दुनिया को गदागद् हिला देनेवाली अनर्थकारी सामर्थ्य भले ही हो, लेकिन क्रांतिकारक की लोक-हितकारी शक्ति नहीं है। इसलिए दुनिया में मनुष्यता की प्रतिष्ठा बढ़ाने का—मालदार आदमी, कुलीन आदमी, हाकिम, पहलवान, सिपाही इन सबकी अपेक्षा केवल मनुष्य, औसत मनुष्य, मेहनत-मजदूरी करनेवाले श्रमजीवी की—प्रतिष्ठा बढ़ाने का नवमतवादियों का प्रयास ही हमारी अभीष्ट क्रांति की दृष्टि से अधिक विचारणीय

और उपयोगी है।

समाज में प्रचलित मूल्यों को बदल कर उनके बदले हमारी क्रांति के लिए उपयोगी मूल्यों की प्रतिष्ठा करना क्रांति की प्रक्रिया—'टेकनिक' का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। इस मूल्य-परिवर्तन के लिए क्रांति के सिद्धान्त के द्योतक कुछ प्रतीक भी प्रस्तुत करने पड़ते

हैं। तब फिर नीति के सिद्धान्त के अनुकूल साधनों की योजना करनी होती है। सारांश, क्रांति का तत्त्वज्ञान, उस तत्त्वज्ञान के द्योतक प्रतीक और उसके अनुरूप साधनों की योजना, इतनी बातें मिलाकर क्रांति का शास्त्र बनता है।

मनुष्य मनुष्य का संघर्ष नष्ट करने का सबसे परिणामकारक इलाज है, झगड़े के मूल को नष्ट करना। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे प्रचलित झगड़ों का एक बहुत बड़ा कारण वर्तमान आर्थिक विषमता है। इसलिए उसे नष्ट करने के लिए आवश्यक उपाय काम में लाना जरूरी है। लेकिन इन उपायों पर अमल करने में इस बात का भी विचार करना चाहिए कि उनके जरिये हमारा अभीष्ट साध्य प्राप्त होना कहाँ तक संभवनीय है।

आज मनुष्य-समाज में गुण की बनिस्बत जन्म की, श्रम की अपेक्षा धन की और उद्योग की अपेक्षा युद्ध की अधिक कद्र है। गुण, श्रम और उद्योग की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न आधुनिक संसार में जिन महापुरुषों ने किया उनमें गांधी अग्रगण्य हैं। दूसरे नवमतवादी तो यही मानते हैं कि पूँजीशाही और लश्करशाही का प्रतिकार उन्हींके साधनों से करना पड़ेगा। परन्तु, गांधी कहता है : "यदि पूँजीवादी और युद्धवादी लोगों को जीतने का युद्ध ही एकमात्र उपाय हो तो हमें सच्चे दिल से उन्हींके सम्प्रदाय को स्वीकार कर लेना चाहिए और यह नम्रता से कबूल कर लेना चाहिए कि हमारा अपना सिद्धान्त गलत, दिखावटी और बेकार है। युद्धवादियों के धर्म का यह प्रथम सूत्र है कि तत्त्व-प्रस्थापना का युद्ध के सिवा दूसरा कोई साधन है ही नहीं। वही अगर हमें मंजूर करना है, तो हम को उन्हींकी शरण लेनी चाहिए। क्योंकि तब उनके और हमारे मार्ग में तथा ध्येय में भेद ही क्या रहा ? हमारी अपनी विशेषता ही कौन-सी रही ?" इस दृष्टि से दूसरे नवमतवादी, साधनों की योजना में क्रांतिकारक नहीं हैं। बल्कि एक हद तक सनातनी ही हैं। उनकी योजना नयी है, कार्यक्रम अभिनव है, प्रक्रिया भी अपूर्व है, लेकिन साधन वही पुराने और परम्परागत हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि उनका नवमतवाद जीर्ण मतवाद का ही एक दूसरा पहलू है।

मानो जीर्ण मतवाद को उलट कर रोगन लगा लिया हो और उसका रूप कुछ नया-सा बना दिया हो।

गांधी के कुछ मन्तव्य और कुछ मार्ग सनातनी छाप के भले ही दिखाई देते हों; फिर भी सर्वतोमुखी क्रांति का उसके जैसा पुरस्कर्ता और प्रणेता आधुनिक संसार में दूसरा नहीं हुआ। गांधी का साध्य सर्वोदय या सर्वहित है। उसके धर्म का पहला नियम बन्धुत्व है। उसके रामराज्य के नियामक सिद्धान्त स्वातंत्र्य और समता हैं। आर्थिक विषमता और युद्ध को नष्ट करने का उसने प्रण किया है। वह प्रण पूरा करने के लिए उसने जिन उपायों की योजना और प्रयोग किया है, वे भी अपूर्व हैं। अहिंसात्मक प्रतिकार के शास्त्र तथा विधि का प्रवर्तक गांधी, शांतिधर्म का एकनिष्ठ अनुष्ठाता है।

मनुष्यता की प्रतिष्ठा कायम करने के उद्देश्य से उसने हरिजन-सेवा का उपक्रम किया। श्रम का मूल्य बढ़ाने के लिए शरीर-श्रम का समावेश एकादश आवश्यक व्रतों में किया । और लश्करशाही नष्ट करने के हेतु एक अभिनव, उदात्त और बन्धुत्व-वर्धक युद्ध-पद्धति का आविष्कार और संशोधन किया। जिन पुण्यश्लोक युग-प्रवर्तकों ने संसार को एक क्रांतिकारक ध्येय दिया उनका कार्य गांधी ने पूरा किया। गांधी को भी थोड़ा-सा विध्वंस करना पड़ा। लेकिन यह उद्योग पुराने खण्डहरों की दीवारें गिराकर, नये मन्दिर की नींव डालने के समान था। कुल मिलाकर गांधी के कार्य का स्वरूप दूसरों के सिद्धान्त का खण्डन करने का नहीं, प्रत्युत् उनकी त्रुटियों को पूरा करने का है। भावी इतिहास उनके विषय में यही निर्णय देंगे कि 'He came not to destroy, but to fulfil'—वह बिगाड़ने नहीं, बनाने आया था ! नवमतवादियों के क्रान्तिकारक ध्येय में क्रान्तिकारक साधन तथा प्रतीक जोड़कर गांधी ने उनका दर्शन अधिक शास्त्रपूत, तर्कशुद्ध और कार्यक्षम बनाया।

शान्तिमय-संग्राम की अपूर्व कल्पना एवं पद्धति का आविष्कार और प्रयोग करनेवाला गांधी आधुनिक संसार का सर्वश्रेष्ठ शान्तिदूत ही नहीं है, वह सर्वतोमुखी क्रान्ति का अग्रदूत भी है। इसीलिए गांधी के ये शब्द बिलकुल यथार्थ हैं :

"Some people have called me the greatest revolutionary of my time. It may be false, but I believe myself to be a revolutionary, a non-violent revolutionary ..... They say 'means are after all menas.' I would say 'means are after all everything.' As the means so the end ..... Realisation of the goal is in exact proportion to that of the means. This is a proposition that admits of no exception."

"कुछ लोग मुझे अपने जमाने का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी मानते हैं । शायद यह गलत भी हो, लेकिन फिर भी मैं अपने-आप को एक क्रान्तिकारक शान्तिपरायण क्रान्तिकारक—तो मानता ही हूँ ।.कहा जाता है कि आखिर साधन तो साधन ही है। मैं कहूँगा कि अन्त में साधन ही सब कुछ है। जैसा साधन तैसा साध्य। साध्य और साधन में कोई अभेद्य दीवाल नहीं है। . जिस अनुपात में साधन का अनुष्ठान होगा, ठीक उसी अनुपात में ध्येय-प्राप्ति होगी। यह नियम निरपवाद है !"

अक्तूबर, १९४०

७. प्रेम-वृत्ति की गहन गति

गांधीजी की वर्तमान नीति की आलोचना करते हुए कई लोगों ने कहा है कि "अब गांधीजी ने अपनी स्वाभाविक निर्वैरता या प्रेम-वृत्ति तलाक दे दिया है। अब तो प्रेम-वृत्ति की अपेक्षा उनकी स्वाभिमान की वृत्ति अधिक प्रबल हो गयी है और इसीलिए वे वास्तविक सत्याग्रह-धर्म का परित्याग कर रहे हैं। वाक्-स्वातंत्र्य के प्रश्न पर सत्याग्रह शुरू करने का नतीजा यही होगा कि सरकार परेशान होगी। सत्याग्रही अपने प्रतिपक्षी की कठिनाइयों से लाभ उठाना नहीं चाहता, वह उसे कभी तंग करना नहीं चाहता। लेकिन गांधीजी तो कांग्रेस की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपने प्रतिपक्षी को परेशान करने से भी बाज नहीं आते। सत्याग्रही तो केवल सेवा-धर्म जानता है; मान-अपमान या आत्मरक्षा और आत्मघात के प्रश्न उसके सामने उठने ही नहीं चाहिए।"

मान-अपमान का प्रश्न

यह तर्क ऊपर-ऊपर से बड़ा लाजवाब और माकूल मालूम होता है । गांधीजी जैसे श्रेष्ठ सत्याग्रही का कोई 'प्रतिपक्षी ' हो ही नहीं सकता। दूसरे अपने-आप को उनके प्रतिपक्षी भले ही मानें; स्वयं गांधीजी की दृष्टि में तो सभी 'स्वकीय' हैं। शत्रु से भी प्रेम करने का यही मतलब है। जहाँ निर्वैरता या प्रेम होता है, वहाँ मान-अपमान का भाव भी लुप्त हो जाता है। जब सभी 'आत्मीय' हैं, बल्कि 'आत्मवत्' हैं, तब मान-अपमान के भाव की गुंजाइश ही कहाँ है? मान-अपमान का भाव तो प्रेम-वृत्ति में घुल जाता है। किसी रोगी की शुश्रूषा करने में हम मान-अपमान का विचार कब करते हैं ? प्रेम तो आत्म-विलोपन, आत्म-समर्पण और आत्मोत्सर्ग में ही कृतार्थ होता है।

'तब गांधीजी सरकार को चिन्ता से मुक्त रखने के लिए, उसे परेशानी से बचाने के लिए, कांग्रेस का मिट जाना भी कबूल क्यों नहीं फरमाते ? एक राष्ट्र की सेवा के लिए दूसरे

राष्ट्र का जिस तरह आत्म-विसर्जन कर देना क्या संसार के इतिहास में आत्म-त्याग का एक अभूतपूर्व उदाहरण नहीं होगा ?

गांधीजी की सहानुभूति

जवाब यह है कि गांधीजी इंग्लिस्तान के वास्तविक हित के लिए अपना और अपने राष्ट्र का बलिदान करने के लिए तैयार थे। क्या अपनी पहली ही भेंट में उन्होंने बड़े लाट से स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कहा था कि "हिन्दुस्तान की आजादी का सवाल इस वक्त मेरे दिमाग में नहीं है। मेरी तो तुम्हारे साथ बिना शर्त सहानुभूति है।" उसके बाद भी उन्होंने हरएक ब्रिटेनवासी से यही निवेदन किया कि अगर तुम हिटलरवाद का मुकाबला करने का एकमात्र सही तरीका अख्तियार करो, तो मेरी सेवाएँ तुम्हारे सुपुर्द हैं। ।

मतलब यह कि इंग्लिस्तान के वास्तविक हित के लिए और मुनष्यजाति की वास्तविक सेवा के लिए अपनी या अपने राष्ट्र की सारी शक्ति लगा देने में और उस प्रयत्न में आत्म-विसर्जन कर देने में गांधीजी ने कोई अगर-मगर नहीं किया।

परशुरामवाद

लेकिन उन्होंने यह देखा कि इंग्लैण्ड गलत रास्ते से जा रहा है। वह ऐसा रास्ता है, संसार की सेवा के कर्तव्य से भ्रष्ट हो जाती। इसलिए गांधीजी ने कहा कि 'कांग्रेस की आत्महत्या, अधर्म होगा।'

गांधीजी जैसे परम श्रेष्ठ सत्याग्रही अपने शरीर को सेवायतन समझते हैं, न कि भोगायतन। किसी व्यक्ति या राष्ट्र के वास्तविक हित के लिए वे उसकी आहुति हँसते-हँसते दे देंगे। परन्तु किसी को खुश करने के लिए या उसे गलत रास्ते पर चलने में मदद करने के लिए वे आत्महत्या नहीं करेंगे। उनका शरीर सेवा का साधन है, इसलिए वे उसे सेवा-क्षम

रख कर सेवा करते रहेंगे। परहित के लिए 'आत्पोत्सर्ग' परम धर्म है, परन्तु दूसरे की मर्जी के लिए आत्महत्या अधर्म है, क्योंकि वह हमें वास्तविक सेवा से विमुख करती है।

प्रेम-वृत्ति का तकाजा

इंग्लिस्तान को हिंसा और हिटलर को स्पर्धा के गलत मार्ग से परावृत्त करने की चेष्टा करना उसके हित के लिए आवश्यक है। इस परिस्थिति में यही उसकी यथार्थ सेवा है। प्रेम-वृत्ति का यही तकाजा है। इसलिए गांधीजी कहते हैं कि सन्मार्ग बतलानेवाले मित्रों की आत्महत्या अधर्म है। इसमें न तो सताने या तंग करने का इरादा है, न अपनी प्रतिष्ठा का विचार। सत्याग्रही की परम गहन प्रेम-वृत्ति का ही यह एक पहलू है।

सरकार की लापरवाही

सच तो यह है कि सरकार को गांधीजी की सहानुभूति या कांग्रेस के सहयोग की कोई विशेष परवाह नहीं है और न उसे कांग्रेस या गांधीजी के असहयोग से ही कोई डर है। उसने तो करीब-करीब दोनों से यही कह दिया है, "तुम्हें जो कुछ करना हो सो करो। हमारा कुछ बनने-बिगड़नेवाला नहीं है ।"

ऐसी स्थिति में दरअसल गांधीजी या कांग्रेस को सरकार की हैरानी या परेशानी की चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं रह जाती । जब सरकार ही गांधीजी और कांग्रेस के सहयोग की कोई जरूरत महसूस नहीं करती, तो दूसरों का सरकार की परेशानी की चिन्ता करना व्यर्थ है।

'रामनाम' पर पाबन्दी

परन्तु तिस पर भी गांधीजी और कांग्रेस तो सत्याग्रह-धर्म कैसे छोड़ सकते हैं ? इसलिए उन्होंने सरकार को परेशान न करने का निश्चय कर लिया है। लेकिन वे सेवा करने

के कर्तव्य से तो विमुख तो नहीं हो सकते । अहिंसापरायण व्यक्ति के सहयोग—सेवा—का लक्ष्य यही हो सकता है कि वह अपने मित्र द्वारा कम-से-कम हिंसा होने दे। गांधीजी आज यही करने की स्वतन्त्रता चाहते हैं। उन्हें वह स्वतन्त्रता देने से इनकार करना मानो रामनाम लेने की मुमानियत करना ही है।

१२-१०-१९४०

८. गांधीत्व क्या है ?

'गांधीत्व' क्या है ?

उस दिन गांधी-विचार के एक नैष्ठिक साधक गांधीजी की विशेषता के विषय में चर्चा कर रहे थे। उनका यह आशय था कि गांधीजी की विशेषता यह नहीं है कि उन्होंने संसार को प्रतिकार का एक अनोखा तरीका बतलाया; बल्कि यह है कि मनुष्य की आत्मोन्नति के लिए सेवा को आवश्यक मानते हैं—या यों कह लीजिये कि सेवा को ही आत्मोन्नति का साक्षात् साधन मानते हैं और सेवा की योग्यता प्राप्त करने के लिए द्वादश व्रतों का अनुशीलन अनिवार्य मानते हैं ।

गांधीजी के तत्त्वज्ञान की यह व्याख्या स्वीकारने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । परन्तु यह व्याख्या स्वीकार करने पर भी यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह या प्रतिकार का एक अभूतपूर्व तरीका गांधीजी ने दुनिया को दिखा दिया, यही उनकी विशेषता है। क्योंकि यह प्रतिकार का तरीका सेवावृत्ति में से ही निकला है। हिंसक प्रतिकार के अलावा संसार में साधारण रीति से प्रतिकार की तीन विधियाँ पायी जाती हैं :

(१) सहनशीलता या अप्रतिकार। कोई हम पर अन्याय या अत्याचार करे, तो भी हम शांतिपूर्वक और प्रसन्नचित्त से सहते चले जायँ और अपनी सहनशीलत से उसका दिल पिघला दें।

(२) क्षमा। दूसरा हमारा कोई अपराध करे या हमारे साथ अन्याय करे, तो हम केवल उसे बर्दाश्त ही नहीं करें, वरन् सच्चे हृदय से और उदारतापूर्वक उसे क्षमा कर दें। और

(३) अपकार के बदले उपकार। इसमें अपने साथ बुराई करनेवाले को हम केवल माफ नहीं करते, बल्कि बुराई का बदला भलाई से चुका कर उसका हृदय-परिवर्तन करने की चेष्टा करते हैं।

गांधीजी ने जो तरीका ईजाद किया है वह इन सबका पूरक होते हुए भी अपनी विशेषता रखता है। अन्याय या अत्याचार सह लेना, गुनाह माफ कर देना, हमेशा और हर हालत में उचित नहीं होता । कभी-कभी अन्यायी या अपराधी व्यक्ति के हित के लिए उसे अन्याय या अपराध से बचाना भी जरूरी हो जाता है। ऐसे मौके पर भावरूप या विधायक प्रतिकार की आवश्यकता होती है। रोगी की सेवा-शुश्रूषा के लिए रोगनिवारण का यत्न जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक इस प्रकार का प्रतिकार है। रोग-निवारण के उपचारों से रोगी की जितनी सेवा होती है, उससे कहीं अधिक सेवा अपराधी व्यक्ति की इस प्रतिकार से होती है। यह प्रतिकार केवल तितिक्षात्मक या केवल क्षमात्मक नहीं है। इसमें केवल अपकार के बदले उपकार की उदारता ही नहीं है। अहिंसक प्रतिकार के ये तीनों गुण सत्याग्रही प्रतिकार में अन्तर्हित हैं। लेकिन उसका विशेष गुण सेवा है। सत्याग्रही केवल क्षमा या तपस्या की वृत्ति से अन्याय और अत्याचारों को सहन नहीं करता किन्तु अन्यायी और अत्याचारी व्यक्ति की आत्मोन्नति में सहायता देने के लिए, उसकी मनुष्यता के विकास में मदद पहुँचाने के लिए, याने, दूसरे शब्दों में, उसकी सेवा करने के लिए, प्रतिकार करता है।

गांधीजी के तत्त्वज्ञान का मूल स्त्रोत सेवावृत्ति अवश्य है। लेकिन अन्याय के प्रतिकार में भी सेवावृत्ति का विनियोग उनकी अपूर्व विशेषता है। अब तक तो अन्याय में प्रतिकार के दो ही शिष्ट-सम्मत हेतु माने जाते थे : एक शासन और दूसरा, सामाजिक शुद्धि। शासन में सामाजिक प्रतिरोध और आतंक की भावनाएँ मिली हुई होती थीं और जब कोई व्यक्ति या समूह शासन से भी दूरुस्त नहीं होता था तो उसे सामाजिक स्वच्छता के लिए नष्ट कर दिया

जाता था। आजकल गुनहगार और अपराधियों के विषय में भी शुचिता और शासन का स्थान सुधार और शिक्षण को मिल रहा है। यह सेवाधर्म का ही एक स्वरूप है। उसी सेवाधर्म का सामुदायिक प्रयोग गांधीजी सामाजिक और राजनैतिक प्रतिकार के क्षेत्र में कर रहे हैं। आत्मोन्नति और समाज-सेवा या यज्ञ और मोक्ष के समन्वय का उनका सिद्धान्त अपने सम्पूर्ण वैभव और उत्कर्ष में उनकी प्रतिकार-नीति में ही प्रकट होता है

फरवरी, १९४२

९. गांधीवाद के ठेकेदार

सबके बापू

हमें बापू के विचारों की विरासत ईश्वर की कृपा से मिली तो सही, लेकिन उनके जैसा दिल भगवान् ने नहीं दिया। इसलिए वे विचार हमारी बुद्धि को जँचते हैं, परन्तु जीवन में अमाते नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। बापू का हृदय आकाश के समान व्यापक था। इसमें सद लोग समा जाते थे। उनके लिए कोई 'पराया' न था। उन्हें शत्रु मालूम ही न था। इसलिए अपने आदमी के लिए एक न्याय, और दूसरे के लिए दूसरा न्याय, ऐसा पराया भाव उन्हें छुआ तक नहीं। उन्होंने कभी किसी से वैर किया ही नहीं। इसलिए किसी घटना की जो व जैसी छाप उनके मन पर अंकित होती, वैसी हमारे हृदय पर होना संभव न था। आखिर बापू 'बापू' थे और हम 'हम' ! किसी परिस्थिति विशेष की बापू के हृदय पर जो प्रतिक्रिया होती, वह उनकी महानता के अनुरूप ही होती।

संतों के 'संतु'

और यही स्वाभाविक भी था। जैसे जिसकी मनोरचना और झुकाव होता है, वैसे उसकी प्रतिक्रिया होती है। वह उसका बोध भी अपनी वृत्ति के अनुसार ले लेता है। 'परस्त्री को माँ के समान समझना चाहिए,' इसका मतलब, हररोज अपनी माँ का अपमान करनेवाला शख्स, अपनी उस वृत्ति के अनुसार ही नहीं करेगा, ऐसी बात नहीं। अपने और दूसरों के बच्चों में भेद न देखो, यह सूत्र सच मान कर कोई दूसरे के बच्चे को अपने बच्चे के समान पीटने लगे तो आश्चर्य नहीं। संत और महान् पुरुषों के अनुयायियों के बारे में ऐसी बात कई बार होती देखी जाती है। उस संत का या महान् व्यक्ति का तत्त्वज्ञान उसके अनुयायियों की वृत्ति के साँचे में उड़ेला जाय, तो वह भिन्न-भिन्न आकार धारण करेगा और मूल रूप या सत्य रूप कौन-सा है, इसका निर्णय करना अशक्य होगा। संत का तत्त्वज्ञान

'संतु'* के जीवन के आकार का हुआ, तो उसकी तारक शक्ति एकदम नष्ट हो जाती है। इसलिए ऐसे सन्तुओं के भिन्न-भिन्न साँचे देखकर उनसे संतों का नाप कोई न निकाले।

---

* संतु = संत का साम्प्रदायिक अनुयायी।

बापू के राजनीतिक अनुयायियों की कसरत

दूसरे महापुरुषों के समान बापू के बारे में भी हुआ। राजनीति में भी सत्य और अहिंसा को स्वीकार करना चाहिए, यह बापू का आग्रह था। बापू के कूटनीतिज्ञ-अनुयायी कहने लगे, "इसीमें बापू की राजनीति का मर्म है। उन्होंने सत्य और अहिंसा को तत्त्व के तौर पर नहीं, बल्कि नीति (पॉलिसी) के तौर पर ही अपनाने को कहा है। हमेशा सच बोलनेवाले पर लोग विश्वास करने लगते हैं, और फिर वह बिलकुल आसानी से और अचूक धोखा दे सकता है। सत्य भाषण करने वाला अगर झूठी गवाही दे दे, तो वह सच्ची मानी जाती है। हमेशा सचाई से बर्ताव करनेवाले बनिये की ठगाई भी चल जाती है।" इस विचार-प्रणाली के लोगों ने एक भारी-भरकम नाम दिया है— 'नीति' ! 'झूठ चल जाय, इसलिए तुम सचाई से चलो', इसका नाम है, 'सचाई की नीति।' 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी नीति है,' इसका अर्थ भी यही है। इसलिए बापू के राजनीति-विशारद अनुयायी कहने लगे कि 'राजनीति में बड़ी चालाकी से दाँव-पेंच चलाकर विपक्षी की आँखों में धूल फेंकी जा सके, इसलिए तुम सत्य और अहिंसा की आड़ में राजनीतिक खेल खेलो !'

गांधीजी के सीधे-सादे और धार्मिक वृत्ति के अनुयायियों का दूसरा एक वर्ग कहने लगा कि "अन्य क्षेत्रों में असत्य चल सकता है—बल्कि वह आवश्यक भी है, लेकिन राजनीति में असत्य नहीं आना चाहिए, क्योंकि बापू का यह आग्रह था कि राजनीति में झूठ का सहारा नहीं लेना चाहिए। बापू की तेजस्वी एवं पुरुषार्थ-युक्त राजनीति को देखकर ही

हम उनके अनुयायी हो गये हैं। हम उनके शिष्य थोड़े ही हैं ! हम तो उनकी राजनीति के अनुयायी हैं । अतः जिस तरह अनुशासन के तौर पर खादी तो पहनेंगे, लेकिन मिलों का पुरस्कार करेंगे; अनुशासन के कारण चरखा तो चलायेंगे, लेकिन यंत्रीकरण का प्रतिपादन करेंगे; अनुशासन के लिए गोरों की लाठियाँ तो खायेंगे, पर शस्त्रीकरण का समर्थन करेंगेप—उसी तरह राजनीति में तो सत्य को अपनायेंगे, लेकिन इतर व्यवहार में सत्य का पालन करने की कसम हमने नहीं खायी है। हम चोरबाजार करेंगे, जाली दस्तावेज बनायेंगे, कसम खाकर झूठी गवाहियाँ देंगे—यह सब तो हमारी निजी बातें हैं। उनका राजनीति के साथ कोई संबंध नहीं !"

कोई भी बुद्धिमान निरीक्षक मुझ पर यह आक्षेप नहीं करेगा कि यह सारा केवल कपोलकल्पित चित्र है। बापू की अहिंसा के तो हरएक ने अपनी-अपनी ताकत, सुविधा और बुद्धि के अनुसार अनंत अर्थ लगाये । किसीने कहा, 'शस्त्रसज्जित विप्लव की तैयारी गुप्त रीति से करनेवालों को पनाह देने के लिए यह तरकीब निकाली गी गयी है।' तो दूसरे ने कहा, 'यह तो शस्त्रसज्जित क्रांति की प्रारंभिक तैयारी है।' कुछ लोगों ने उसका यह अर्थ लगाया कि "राजनीति में हिंसात्मक प्रतिकार करना संभव नहीं है, इसलिए लाचारी से स्वीकार किया हुआ यह व्यावहारिक तंत्र है। यह राजनीति तक ही सीमित है। अन्य क्षेत्रों में और निजी व्यवहार में इस तंत्र का प्रयोग करने की जरूरत नहीं है। अतः केवल अंग्रेजी सरकार के साथ व्यवहार करते समय ही अहिंसा की मर्यादा का पालन करना है, अन्य व्यवहारों में यथासंभव सभी हिंसक या अहिंसक उपायों का प्रयोग बेशक किया जाय !"

शत्रु से दोस्ती, पर मित्रों से वैर

बापू के भाष्यकारों में से आचार्य कृपालानी बड़े मार्मिक और विनोदी हैं। उन्होंने एक बार कहा कि बापू ने हमको हर तरह से यह बताया कि 'अरे भाई, अपने दुश्मनों पर प्रेम

करो।' उन्हें ऐसा लगा कि दोस्तों और पड़ोसियों पर प्रेम करने के लिए कहने की कोई जरूरत ही नहीं, क्योंकि वह तो स्वाभाविक है । लेकिन हम लोगों ने सोचा कि चूँकि बापू लोकोत्तर पुरुष थे, इसलिए उनकी सीख भी लोक-विलक्षण ही होनी चाहिए। राजनीति में भी असत्य न हो, हिंसा न हो, यही लोक-विलक्षण सिखावन ! चुनांचे धर्म में, व्यापार में और कुटुम्ब में झूठ और हिंसा होनी चाहिए, ऐसा मतलब अगर बापू की सीख में से निकले, तो तभी वह अद्भुत होगी, असामान्य होगी, वरना बिलकुल मामूली समझी जायेगी। इसी तरह 'अपने शत्रुओं से प्रेम करो' यह बापू की शिक्षा लोकोत्तर थी। उसके मुकाबले में दूसरी कौन-सी शिक्षा लोकोत्तर हो सकती थी ? भला, यही न, कि 'अपने मित्रों और पड़ोसियों से द्वेष करो !' यह तो बिलकुल सीधा तर्क है । अगर शत्रुओं पर प्रेम करना हो तो पहले शत्रु पैदा करने चाहिए। उसके लिए पड़ोसियों और मित्रों से दुश्मनी करनी चाहिए। पहले सारी दुनिया से दुश्मनी मोल लो, तभी तो प्रेम कर सकोगे ! इस प्रकार वैर के द्वारा प्रेम प्राप्त करने की यह अपूर्व प्रक्रिया है। कृपालानीजी ने आगे कहा, "बापू ने हमें शत्रुओं से प्रेम करने को कहा, और हमने उनके आदेश का अक्षरश: पालन किया। हमने केवल शत्रुओं से प्रेम किया— मित्रों से प्रेम करना या तो हम भूल गये, या फिर उसे इरादतन् टालते रहे, क्योंकि अगर वैसा न करते तो बापू की आज्ञा की खिलाफवर्जी जो होती !"

कृपालानीजी की इस आलोचना में केवल सस्ता मजाक नहीं था ।

व्यवहारज्ञ स्थितप्रज्ञ

दूसरे कुछ लोगों ने कहा, "बापू के शब्दों में बहुत गहरा अर्थ होता है, बड़ा गहन तत्त्व होता है। उन्होंने कहा, 'अपने शत्रुओं पर प्रेम करो।' लेकिन हमारा तो कोई शत्रु ही नहीं है, अत: किसी से प्रेम करने की भी हमें कोई जरूरत नहीं है ! हमें न तो वह शत्रुता ही चाहिए और न वह प्रेम ही। हमारा न कोई मित्र है, न शत्रु। कभी यह काम आता है, कभी वह। संसार

में जैसी दूसरी चीजें काम आती हैं, वैसे ही आदमी भी काम आते हैं। कभी किसी व्यक्ति पर गुस्सा आता है तो किसी के प्रति थोड़ी देर के लिए अपनापन हो जाता है। परन्तु उसमें कैसी मित्रता और कैसी शत्रुता ? हमारे लिए न तो कोई मित्र ही है, और न शत्रु ही; अतः प्रेम करने का सवाल ही नहीं रह जाता। इस प्रकार 'सम: शत्रौ च मित्रे च' बर्ताव करनेवाले व्यवहारज्ञ स्थितप्रज्ञों का यह पंथ है !

गांधीजी की विरासत के ये मीरासदार !

लगभग तीस साल पहले कांग्रेस में परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी ऐसे दो पक्ष हो गये थे। विरार में उन्होंने आपस में मारपीट की ! तब परिवर्तनवादियों ने अपरिवर्तनवादियों पर ताना कसा कि 'क्यों जी, यही आपकी अहिंसा है ?' उस वक्त अपरिवर्तनवादियों ने अपनी दलीलों से परिवर्तनवादियों का मुँह बन्द कर दिया। उन्होंने कहा, "अजी, अहिंसा तो सरकार के खिलाफ लड़ने के लिए है । आपस के झगड़े में उसका प्रयोग नहीं करना है !" यानी सरकार के खिलाफ लड़ने के लिए विशेष रूप से सावधानी के साथ रखे हुए उस महान् आयुध को मामूली मारपीट में इस्तेमाल करके हम उसकी विडम्बना नहीं करेंगे । गांधीजी ने सरकार के विरुद्ध प्रयोग करने के लिए हमको अहिंसा दी है। उसको आपसी झगड़े में प्रयुक्त करके हम उनको अपमानित नहीं करेंगे ! जो लोग विरार-परिषद को भूले न होंगे, वे अच्छी तरह जानते हैं कि यह कोई दन्तकथा नहीं है।

अपनी-अपनी भूमिका और प्रयोजन के अनुसार गुरुवाक्य का अर्थ लगाने का यह रिवाज हमारे यहाँ परम्परा से चलता आया है। प्रजापति के दिये हुए 'द' आदेश के तीन अलग-अलग अर्थ देवों, मनुष्यों और असुरों ने, अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार लगाये । राम ने कहा था; 'मरणान्तानि वैराणि'— (मृत्यु तक ही वैर किया जाय) । इसका अर्थ राम के उपासकों ने यह लगाया कि 'मृत्यु तक वैर किये जाओ !' यानी वैर का अन्त वैरी के अन्त

के बाद ही होना चाहिए। इन राम उपासकों के कहने का मतलब यह है कि जब तक वैरी खत्म नहीं होता, तब तक वैर भी खत्म नहीं होता। अत: अगर वैर को खत्म करना है तो वैरी को ही खत्म कर दिया जाय। इसी को कहते हैं, 'गाँठ को तलवार से काट कर खोलनेवाले सिकंदर का मार्ग—(कंटिंग द नॉट) ।' बापू ने कहा, "अंग्रेजों पर प्रेम करो, मुसलमानों पर प्रेम करो, दुराचारियों पर प्रेम करो।" हमने इसका यह अर्थ लगाया कि भारतीयों पर प्रेम करने की कोई आवश्यकता नहीं है ! एक जाति के हिन्दू को दूसरी जाति के हिन्दू पर प्रेम करने की जरूरत नहीं है। एक पक्ष का व्यक्ति अगर दूसरे पक्ष के व्यक्ति से बदला ले ले, तो उसमें कोई हर्ज नहीं है। यह भी कोई आवश्यक बात नहीं है कि एक सज्जन दूसरे सज्जन के साथ स्नेह और सहयोग से पेश आये। 'जैसी जिसकी हँड़िया (दिमाग) वैसी उसकी मति।' और ये सभी गांधीजी के वारिश हैं, गांधीवाद के मीरासदार हैं ! गांधीवादियों के किसी भी झुंड में हम इन्हें पहचान सकते हैं।

साम्प्रदायिकता से रक्षण करने का कर्तव्य

बापू के ऐसे अनुयायी सब जगह हैं। आश्रम में हैं, कांग्रेस में हैं, रचनात्मक संस्थाओं में हैं, धार्मिक क्षेत्रों में हैं। बापू के कुछ कार्यों का और जीवनचर्या का बाह्य अनुकरण करके उन्होंने उनके अनुयायित्व पर अपना विशेष अधिकार प्रस्थापित किया हुआ होता है। अत: ये समझाने लगते हैं कि हम औरों से 'अलग' हैं, इतर जनों से, सामान्य लोगों से भिन्न ऐसे 'विशेष लोग' हैं ! इसीको सांप्रदायिकता कहते हैं। गांधीजी के तत्त्वज्ञान के अनुसार हम चलते आये हैं, इसलिए उनके तत्त्वों का सही अर्थ हमीं जानते हैं, औरों को उसका अर्थ करने का कोई हक नहीं है—इस प्रकार की वृत्ति सांप्रदायिकों में पैदा होती है और सबमें सद्भाव की स्थापना करने की इच्छा रखनेवाले सन्त पुरुष के नाम पर 'व्यवच्छेदक पंथवाद' को अनुचित महत्त्व प्राप्त होता है। गांधीजी के तत्त्वज्ञान का ग्रंथीकरण करके उसके संदिग्ध तथा विवाद्य विषयों का अधिकृत अर्थ लगाने के लिए एक 'गांधीपीठ' की

स्थापना करने की बात इन पंथवादियों को सूझ सकती है और उसमें से गांधीजी के बाद के 'गांधीवाद' का एकाध संस्करण निकल सकता है । इस संकट से गांधीजी की रक्षा करना सब विचारकों का आद्य कर्तव्य है।

सन् १९४८ में ता. १३, १४ व १५ मार्च को सेवाग्राम में जो छोटा-सा सम्मेलना हुआ, उसमें इसी बात पर खास तौर से ध्यान दिया गया। कुछ लोग सोचते थे कि चन्द चुने हुए व्यक्तियों की एक 'चुस्त' संस्था स्थापन की जाय और उस संस्था के संचालक अधिकार के साथ गांधीवाद के बारे में निर्णयात्मक मत और व्यवस्था दे दें । लेकिन यह ख्याल बापू की विचारधारा एवं कार्यप्रणाली के प्रतिकूल था, क्योंकि बापू ने अत्यन्त गम्भीरता के साथ बार-बार यह आग्रहपूर्वक कह दिया था कि 'गांधीवाद' जैसी कोई चीज ही नहीं है । ऐसा वह 'गांधीवाद' क्या है, इस सम्बन्ध में लोगों में झगड़ा हो और उसमें से अमुक पक्ष का कहना सही है, ऐसा निर्णय कुछ स्वयंमन्य तथा स्वयंनियोजित ठेकेदार दे दें, तो वह गांधीजी की, विडम्बना ही समझी जायेगी। अत: गांधी-विचारों पर आधारित किसी संगठन को 'गांधी-संघ' या 'गांधी-मंडल' जैसा कोई नाम दिया जाय या नहीं, इसकी चर्चा जब चली, तो जाजूजी, किशोरलालभाई, कृपालानीजी, कुमारप्पा, काकासाहब आदि सब लोगों ने साफ-साफ कह दिया कि यदि हम "गांधी" का नाम स्वीकार करें, तो भी किसी प्रकार का गांधीवादी-संगठन या गांधीजी का सम्प्रदाय प्रस्थापित करने की छिपी भावना भी उनमें कतई नहीं होनी चाहिए।

गांधीजी के सहविचारकों की मर्यादाएँ

खास अनुयायियों, चेलों और गद्दी के हकदारों के उपद्रवों से बापू की स्वतंत्र, सत्यान्वेषी और अनाग्रही आत्मा की रक्षा करना उनके भक्तों तथा अनुयायियों का प्रथम कर्तव्य था, जिसे उन्होंने प्रामाणिकता से और अच्छी तरह पूरा किया। विनोबा,

काकासाहब, किशोरलालभाई, कृपालानीजी ये कोई 'गांधीवादी' नहीं हैं। गांधीजी ने जिन तत्त्वों का प्रतिपादन और प्रयोग किया, बे तत्त्व इन लोगों को जँच गये और उन्होंने अपनी-अपनी भूमिका पर से, अपने-अपने ढंग से अपने जीवन में उन तत्त्वों का आविष्करण और प्रयोग किया। स्वयं गांधीजी ने उन्हें अपने 'सह-विचारक' या 'सम-विचारक' कहा। इसमें केवल गांधीजी की विनयशीलता ही नहीं थी; वह सत्यकथन भी था। विनोबा, काका और किशोरलालभाई ने जब उन विचारों को स्वीकार किया, आत्मसात् किया, तो वे उन्हींके हो गये। अब उन विचारों की जिम्मेवारी गांधीजी पर नहीं रही। उनमें कुछ त्रुटियाँ, दोष या खूबियाँ हों तो वे गांधीजी की नहीं हैं। विनोबा, किशोलालभाई, काका आदि को प्रेरणा और स्फूर्ति बापू से मिली, उन्होंने बापू के निर्णय को अपने निर्णय से श्रेष्ठ माना, तो भी उनके विचार बापू के विचार नहीं हैं ।किशोरलालभाई ने 'गांधी-विचार-दोहन' जैसा स्मृति-ग्रंथ लिखा, लेकिन उसकी भूमिका लिखते समय भी गांधीजी ने यह नहीं कहा कि 'किशोलालभाई के विचार ही मेरे विचार हैं।' मगनभाई देसाई ने 'सत्याग्रह-मीमांसा' लिखी, रंगनाथराव दिवाकर ने सत्याग्रह के सम्बन्ध में पुस्तक लिखी, किसीने खादी पर, किसीने ग्राम-उद्योगों पर, किसीने गाय पर, किसीने संविधान पर, तो किसीने आर्थिक नियोजन पर ग्रन्थ लिखे । कृपालानीजी ने 'गांधी-मार्ग' पर लेख लिखे। पट्टाभि सीतारामय्या और जावडेकरजी ने 'गांधीवाद' की मीमांसा की। लेकिन कोई भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि इन सब पुस्तकों में जो विचार प्रकट हुए हैं, वे सब गांधीजी के ही हैं।

गांधी और गांधीवादियों में मतभेद

सन् १९१४ से १९१८ तक के महासमर में गांधीजी ने अंग्रेजी सरकार की मदद की, यह बात गांधीवाद के अनुरूप हुई या नहीं ? सन् १९३४ में गांधीजी ने पार्लियामेंटरी कार्यक्रम का जो पुरस्कार किया, वह गांधी-नीति में स्वीकार्य है या नहीं ? गांधीजी ने पागल कुत्तों को गोली मार देने को कहा और एक बछड़े को मृत्युदान दिया—यह अहिंसा है या

हिंसा ? इस प्रकार की अनेक बातों में गांधीवादियों का गांधीजी के साथ मतभेद हुआ है। किसी भी महत्त्व के मौके पर गांधी और गांधीवादियों की प्रतिक्रिया तथा भूमिका शायद ही एकरूप रही है। कई अवसरों पर गांधीवाद की दृष्टि से गांधीजी की गलती हुई ऐसा प्रामाणिक गांधीवादियों को लगा है। इसलिए अमुक व्यक्ति को गांधीमत के बारे में प्रमाण मानना गांधीजी के प्रति, और खुद उस व्यक्ति के प्रति भी, अन्यायजनक है।

गांधी के नाम पर व्यापार न हो

सत्ता एवं प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए किसी भी महान् व्यक्ति के नाम का इस्तेमाल करना तो सन्तपन के नीलाम की बोली बोलना ही है। इसी को 'बाबा-बाजी' कहते हैं । राजनीति में सत्ता का हथियाना आसान हो और लोगों में अपना महत्त्व बढ़े, इस हेतु से अगर कुछ लोग गांधीजी के नाम पर कोई पक्ष या संस्था खोल दें तो उन्होंने गांधीजी के नाम का व्यापार शुरू किया है, ऐसा ही समझना चाहिए। जो लोग गांधीजी के नाम पर बिकने की चेष्टा करेंगे, वे गांधीजी के नाम में बट्टा लगायेंगे; क्योंकि लोग उन पर से गांधीजी के बारे में अपने विचार कायम करेंगे। अपनी अल्पता पर से गांधीजी की विशालता का अन्दाजा लगाने के लिए लोगों को बाध्य करना गांधीजी के साथ घोर अन्याय है। इसलिए गांधीजी के नाम पर किसी पक्ष की प्रस्थापना करके सत्तावादी राजनीति में भाग लेना अत्यन्त अनुचित एवं अनिष्ट होगा।

गांधी ने क्या दिया ?

तो फिर क्या गांधीजी ने हमको ऐसा कुछ नहीं दिया, जो कि नैतिक जीवन में हमेशा काम आ सके ? सांप्रदायिकता का दोष हम पर लगाया जायगा, इस डर से क्या हम उस देन को भी खो बैठें, जो कि गांधीजी ने हमको दी है ? इस तरह के सवाल हमारे सामने खड़े हो सकते हैं। इन सवालों का जवाब साफ और निश्चित है । हिन्दुस्तान के और दुनिया के

राजनैतिक जीवन में गांधीजी ने जो खास वृद्धि की है, और उसमें जो नया चैतन्य तथा पावित्र्य वे लाये, उस पर कालिख पोतना अधमता होगी। गांधीजी की यह विशेष देन कौन-सी है ? गांधीजी ने दुनिया को वह कौन-सी बात दी, जो औरों को नहीं सूझी या जिसे दूसरे लोग अमल में न ला सके ? दुनिया को उन्होंने कौन-सी शिक्षा दी ?

निंदा-टीका में से खुद का बचाव

सेवाग्राम के उस सम्मेलन में विनोबाजी ने वह बात अचूक बता दी । गांधीजी की सीख की विशेषता है, 'साधन-शुद्धि का आग्रह ।' बुरे मार्गों से अच्छे हेतु सफल नहीं हुआ करते, इस तत्त्व का प्रतिपादन उन्होंने सतत किया और निष्ठा के साथ उस पर अमल किया। उनका यह अनुभवसिद्ध वैज्ञानिक मत था कि सीधी लकीर ही सबसे कम अन्तर बताती है, सरल मार्ग ही सबसे नजदीक का रास्ता है । व्यवहार-चतुर लोगों ने कहा, 'सीधी उँगली से घी नहीं निकलता ।' व्यापारी बोले, 'यह दुनिया भले आदमियों की नहीं है।' कुटनीतिज्ञों ने कहा, 'काँटे से ही काँटा निकल सकता है।' संसारी तत्त्वज्ञ बोले, 'यह जगत् साधुओं के लिए नहीं है।' गांधीजी ने सबकी बातें सुन लीं और कहा, 'ये सब कथन दुनिया के बारे में शिकायत करनेवाले हैं। इसका मतलब यही है कि दुनिया में त्रुटियाँ न होतीं तो आपको वह अधिक पसन्द आती।' शिकायत करनेवालों के मन में यह सुप्त भावना छिपी हुई रहती है कि 'उन बुरे लोगों में मैं नहीं हूँ। उनके कहने का मतलब यह होता है कि "मैं तो सीधा-सादा हूँ, लेकिन इस टेढ़ी दुनिया में मुझे भी मजबूरन टेढ़ा बनना पड़ता है। मैं तो भला हूँ, लेकिन इस बुरी दुनिया में मुझे भी बुरा बनना पड़ता है। मैं किसी को चुभना नहीं चाहता, लेकिन इस चुभनेवाली दुनिया में मुझे कँटीला आवरण ओढ़ना पड़ता है। दुनिया तो बदमाशों से भरी हुई है । इसलिए मुझे साधुत्व नहीं पुसाता।" दुनिया की इस निंदा में यह प्रच्छन्न असंतोष है कि वह सतृप्रवृत्त एवं सद्गुणसम्पन्न नहीं है; परन्तु वैसा उसे होना चाहिए, यह गर्भित इच्छा भी है।

गांधी और गांधीवादियों में मूलभूत फर्क

इसमें एक मजेदार बात और भी है। दुनिया का हर आदमी यही कहता है कि यह संसार इसी तरह दुःसाध्य एवं दुराराध्य है। यानी प्रत्येक व्यक्ति की शिकायत दूसरे प्रत्येक व्यक्ति के खिलाफ है । या यों कहें कि हरएक की शिकयत दसरे सब लोगों के खिलाफ है। इसका मतलब यह होगा कि मनुष्य व्यक्तिश: सत्प्रवृत्त एवं सदाकांक्षी है, लेकिन वह समूहश: असत्-प्रवृत्त एवं असदाकांक्षी है ! लेकिन यह भी सही नहीं है। सवाल सिर्फ दृष्टि में परिवर्तन करने का है। 'दुनिया बुरी है, इसलिए मुझे बुरा बनना पड़ता है,' ऐसी शिकायत आज हर कोई करता है । उसके बजाय अगर प्रत्येक व्यक्ति यह संकल्प करे कि 'दुनिया चाहे जैसी चले, लेकिन मैं तो नेकी से और प्रेम से चलूँगा', तो दुनिया का कायाकल्प होगा। इसी को बापू हृदय-परिवर्तन का तत्त्व कहते थे। गांधीवादी कहता है, "मैं तराश-खराश कर दूसरों के स्वभाव को पूरा मुलायम बना दूँगा।' बापू कहते थे, "मैं पहले अपने स्वभाव के दोषों को दूर करूँगा।'

ट्रॉट्सकी ने कहा था कि जब चारों तरफ पूँजीवाद का साम्राज्य फैला हुआ हो, तब अकेले रूस में समाजवादी राज की स्थापना सम्भव नहीं है। स्तालिन कहता है कि समाजवादी राज का प्रारम्भ तो किसी भी एक देश में हो सकता है। वह प्रारम्भ रूस ही करे। 'जब कि सभी लोग खुलेआम अशुद्ध साधनों का प्रयोग करते हैं, तो केवल हमारे ही साधन-शुद्धि के आग्रह से कैसे चलेगा ?' इस आक्षेप के उत्तर में गांधीजी कहते थे कि साधन-शुद्धि का प्रारम्भ कोई भी कर सकता है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' 'साधन कैसा भी हो, हेतु शुद्ध रहे तो काफी,' इससे अधिक भयावह तथा अवनतिकारक तत्त्वज्ञान दूसरा कोई नहीं है। इस तत्त्वज्ञान से दुनिया में अनवस्था ही केवल नहीं, बल्कि आसुरी वृत्ति का भी साम्राज्य फैल जायगा।

केवल तर्क नहीं, निष्ठा की नमी चाहिए

इसका अनुभव हमें अनेक बार आया है। हमने देखा है कि सार्वजनिक सभा में जो कोई 'अहिंसा' के खिलाफ बोला, कि पीटा गया है। गांधीजी के आलोचकों और विपक्षियों को बाकायदा पीटा गया है और उस समय महात्मा गांधी की जय भी बोली गयी है! और यह सब अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए किया गया है! जिन लोगों ने यह किया, वे ईमानदारी से कबूल करते हैं कि "हम कोई अहिंसा के अनुयायी नहीं हैं, हम तो अहिंसा के रक्षक हैं। और हमारा यह अनुभव है कि शस्त्रों या दण्ड के बिना संरक्षण हो नहीं सकता। अत: हम हिंसा के द्वारा अहिंसा की रक्षा करके हिंसा को अहिंसा की चेरी बना रहे हैं! इसी तरह हम गांधीजी के अनुयायी नहीं, बल्कि उनके भक्त एवं अभिमानी हैं । गांधीजी के निंदक एवं विपक्षी हमारे शत्रु हैं। उनका दमन करने के लिए हम अपने तरीकों पर अमल करेंगे। हम अपनी गांधी-निष्ठा को अपने ढंग से प्रकट करेंगे। इसीलिए तो गांधीजी के कुटुम्बियों और हमेशा उनके साथ रहनेवाले उनके सेक्रेटरी तथा अन्य साथियों ने गांधीजी की हत्या के बाद दुःख के कारण आपे से बाहर होकर न तो मारपीट की और न ही घरों में आग लगायी। लेकिन गांधीजी के अभिमानियों ने जरूर क्रोध तथा शोक के आवेश में ये सब बातें कर डालीं। ऐसा बिलकुल नहीं है कि देवदास गांधी, विनोबा, नरहरिभाई, जवाहरलालजी आदि की बनिस्बत इन लोगों की गांधीनिष्ठा अधिक गहरी थी। लेकिन गांधीजी के प्रति उनका अभिमान अधिक प्रखर एवं उग्र था। उनका गांधीजी पर प्रेम था, परन्तु उन्होंने गांधीजी का शिष्यत्व स्वीकार नहीं किया था । इसलिए उन्होंने अपने ढंग से गांधी-विरोधकों से बदला लिया । गांधीजी अहिंसक होंगे, लेकिन यह कोई आवश्यक नहीं है कि उनका लड़का भी अहिंसक ही होगा! इसलिए अपने पिता का अपमान या तौहीन करनेवाले को हिंसा के द्वारा सजा देने में उसको कोई हिचकिचाहट नहीं हो सकती। गांधीजी अहिंसक थे, लेकिन उतनी मात्रा में सरकार तो अहिंसक नहीं है। इसलिए गांधीजी की रक्षा के लिए सरकार ने सशस्त्र

सिपाही तैनात किये और गांधीजी के हत्यारे को वह फाँसी की सजा भी देगी। इसी न्याय से गांधीजी के प्रति प्रेम तथा अभिमान के कारण गजब-नाक बने उनके अभिमानियों ने अपना क्रोध एवं उद्वेग प्रकट किया। हो सकता है कि इसमें गांधीजी के तत्त्वज्ञान की तौहीन हो। लेकिन यह भी सही है कि उसमें गांधीजी के प्रति प्रेम और अभिमान की हद हो गयी है। हो सकता है कि गांधीजी के अभिमानियों का यह बर्ताव अनुशासनहीन हो, अनुचित हो, लेकिन वह है तो बिलकुल युक्तिसंगत, तर्कशुद्ध ! इसीलिए तो बेचारे बापू कहते थे कि मुझे शुद्ध व शुष्क तर्क नहीं चाहिए, मुझे सबसे पहले निष्ठा और सभ्यता की नमी चाहिए।

अभिमानी गांधी के, अनुयायी गोडसे के !

'बापू के नाम से और उनके प्रति प्रेम के कारण जो लोग हिंसा या अत्याचार का सहारा लेते हैं, उनका हेतु शुद्ध और भावना पवित्र होती है। अत: उनकी हिंसा क्षम्य है! शुद्ध हेतु की सिद्धि के लिए जिन-जिन साधनों का अवलंबन किया जाता है, वे साधन भी शुद्ध ही समझने चाहिए,' इस प्रकार का उनका तर्कशास्त्र होता है। लेकिन इसका निर्णय कौन करे कि अमुक हेतु शुद्ध है और अमुक अशुद्ध है ? इसका उत्तर है—हरएक अपनी-अपनी बुद्धि से इसका निर्णय करे। फिर सवाल उठता है, 'क्या गोडसे भी अपनी बुद्धि से निर्णय करे ?' इस सवाल का जवाब निर्भयता के साथ यही देना होगा कि 'जी हाँ, गोडसे भी !' सत्य को खोजने और देखने का अधिकार हरएक को है। किसी भी व्यक्ति को दूसरों के इस अधिकार से इन्कार नहीं करना चाहिए। सत्य का निर्णय करने का हक जिस तरह गोडसे को है, उसी तरह गांधीजी को भी है। गोडसे को अपना हक मंजूर था, लेकिन गांधीजी का हक मंजूर नहीं था। इसलिए उसने गांधीजी की हत्या की। पर गांधीजी को जिस तरह अपना खुद का हक स्वीकार है, उसी तरह गोडसे का भी स्वीकार है। अत: अगर वे बच जाते तो उन्होंने यह उल्टा ही हठ किया होता कि गोडसे को सजा न दी जाय। सत्य का निर्णय करने का अधिकार हरएक को है। इसलिए तो एक-दूसरे पर जबर्दस्ती सत्य नहीं लादना चाहिए।

जबर्दस्ती के बिना अपने तत्त्व को दूसरों के गले उतारना गांधीजी का मार्ग है, न्याय का मार्ग है, अहिंसा का मार्ग है। अपनी बात को दूसरों के गले उतारने के लिए उसका गला ही घोंट देना या काट देना गोडसे का मार्ग है, जुल्म-जर्बदस्ती का मार्ग है, अत्याचार का मार्ग है। अत: गांधीजी का आग्रह यह रहा कि अच्छा हेतु बुरे मार्गों से सफल होना असम्भव है। अपनी बुद्धि के अनुसार महान् और उदात्त हेतु सामने रखो; लेकिन साथ ही उस हेतु की सिद्धि के लिए किसी पर जुल्म या जबर्दस्ती न करने की मर्यादा का पालन करो। गांधीजी के प्रति अभिमान या प्रेम के कारण अगर हम ज्यादती या अत्याचार करने लग जायँ, तो हम अभिमानी तो होंगे गांधीजी के, पर अनुयायी साबित होंगे गोडसे के ! हाथ में 'हिन्दस्वराज' लेकर विपक्षी के पेट में चरखे का तकुआ भोंकनेवाला गांधीवादी असल में गोडसे तंत्र का ही अनुयायी है!

गांधी-विडम्बना का मार्ग

सत्य को खोजने और तय करने का हक हरएक को है, इसलिए ऐसी शेखी कोई न बघारे कि सत्य का ज्ञान केवल उसीको हुआ है । इस तरह शान दिखानेवाले को 'वेद-वाद-रत' कहते हैं । वह वेदों के अर्थ की बहस करने में ही तल्लीन हो जाता है। दूसरों को नीचे गिराने में ही उसे कृतकृत्यता का अनुभव होता है। इन "वेदवादी' लोगों की तरह ही जिन्हें यह अभिमान हो, कि गांधीजी का अर्थ केवल वे ही जानते हैं, तो वे 'गांधीवादी' हैं! उनका यह दावा होता है कि वे जो कुछ करेंगे, वह शास्त्रपूत है, और उनसे अलग ढंग से जो लोग बर्ताव करेंगे, उनके बर्ताव को वे शास्त्रदुष्ट व अशुद्ध समझते हैं। उनका शील है— नान्यदस्तीति वादिन: (वेदों के बारे में बहस करते रहते हैं और कहते हैं कि दूसरा कुछ नहीं है।) ऐसे गांधीवादियों का अगर कोई पक्ष या पंथ प्रस्थापित हुआ तो इससे भयंकर 'गांधी-विडम्बना' और कया हो सकती है ?

गांधी-विचार का वैशिष्ट्य

गांधीजी के मतों और विचारों का अर्थ लगाने का ठेका किसीका नहीं है। गांधीजी के खास वारिस, उनके विचारों के ठेकेदार कोई नहीं है। जिसे जो सत्य प्रतीत हो, जो हितकारी मालूम हो, उसका अमल वह पहले अपने जीवन में करे और अपनी मिशाल तथा तर्क द्वारा औरों का मतपरिवर्तन करने की कोशिश करे, यह गांधीजी की शिक्षा का निचोड़ है। सत्य और हित का प्रचार करने के लिए जुल्म-जबर्दस्ती और हिंसा का प्रयोग करना बुद्धिपूर्वक एवं प्रयत्नपूर्वक टालते रहें तो गांधीजी के मार्ग की रक्षा होगी, अन्यथा नहीं। यही है विचारस्वातंत्र्य और मतस्वातंत्र्य । यही लोकतंत्र की बुनियाद है। सत्य की खोज एवं आचरण को जब तक अहिंसा के साथ नहीं जोड़ दिया जाता, तब तक विचार-स्वातंत्र्य अमल में आना सम्भव नहीं। अहिंसा के आग्रह के मानी ही है—साधन शुद्धि का आग्रह। वही बापूजी का विशेष सन्देश है। उससे भिन्न गांधी-विचार की अन्य कोई विशेषता नहीं है।

अगस्त, १९५२

(मूल मराठी, जून, १९४८)

१०. रामराज और हरामराज

छुटपन में भूगोल का सबक याद करने के लिए दिया गया। आरंभ भूगोल की परिभाषा से ही हुआ। पुस्तक में भूगोल की जो परिभाषा दी गयी थी वह इस प्रकार थी : 'भूगोल मनुष्य के निवासस्थान के रूप में पृथ्वी का विचार करता है।' मन में सन्देह हुआ, कया ऐसे भी कोई सामाजिक शास्त्र हैं जो पृथ्वी का विचार मनुष्य के निवासस्थान के नाते नहीं करते ? पृथ्वी का विचार करते समय मनुष्य को छोड़ देते हैं ? आज की व्यवस्थाओं और संयोजनों को देखने पर कुछ ऐसा ही मालूम होने लगता है। विज्ञानों और शास्त्रों को और सब चीजों से मतलब है, मनुष्य से कम से कम मतलब है। सवाल यह है कि यह संसार मनुष्य के रहने लायक कैसे बन सकता है ? आज उसमें साधन-सामग्री और उपकरण तेजी से बढ़ रहे हैं, लेकिन मनुष्य हलके-हलके तिरोहित होता जा रहा है।

कोई तीस साल पहले की बात है। एक रियासत की राजधानी में शहर से बाहर सुन्दर बगीचे में बसा हुआ राजमहल देखने गये। वहाँ की एक-एक चीज अनुपम थी। देखते ही बनती थी। वे हाथीदाँत के पलँग, सुन्दर-सुन्दर शीशे, चाँदी से मढ़ी हुई कुर्सियाँ और कोच। उस वैभव का कौन वर्णन करे ? लेकिन उसमें मनुष्यता का स्पर्श कहीं नहीं था। महल के मालिक के स्पर्श की कोई निशानी नहीं थी। दफ्तर के बाबू से पूछा, 'यह महल किसका है ?'

कुछ हँसकर बोले, "यह खूब पूछा! महाराज का और किसका ?'

मैंने पूछा, 'महाराज कभी इसमें रहते हैं ?'

जवाब मिला, 'नहीं।'

'तो फिर इसमें कौन रहता है?' उत्तर मिला, "कोई नहीं।'

'तुम लोग कहाँ रहते हो ?'

'अपने-अपने घरों में।'

'फिर यहाँ क्यों आते हो ?'

'इसलिए कि यहाँ कोई रहने न पाये, इन शीशों में कोई देखने न पाये, इन मंचकों पर कोई सोने न पाये, इन कुर्सियों पर कोई बैठने न पाये। इसी काम के लिए हमको तैनात किया गया है और इसी की तनख्वाह मिलती है।'

उस वक्त वह बात कुछ अटपटी-सी जरूर लगी लेकिन स्वाभाविक भी मालूम हुई। आज जब कभी उस महल की याद आती है, आज की दुनिया का चित्र आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। दुनिया में उपकरण जुटाये जा रहे हैं। सुख के साधन इकट्ठे किये जा रहे हैं, रोज नयी-नयी सामग्रियों का उत्पादन बढ़ाया जाता है, लेकिन मनुष्यों के एक गिरोह को यह फिक्र है कि कहीं उन साधनों का उपयोग दूसरा गिरोह न कर ले। इसलिए मकान पर एक- दूसरे को कब्जा न करने देने की ही हरएक को फिक्र है। मकान में भीड़ है। शोर-गुल भी बहुत है। लेकिन रहनेवालों का पता नहीं। एक-दूसरे से झगड़नेवालों की रेलारेल, ठेलाठेल मची हुई है। कोई कहता है यह प्रतियोगिता है, कोई कहता है स्वास्थ्यपूर्ण स्पर्द्धा है, कोई कहता है, यह चढ़ा-ऊपरी मनुष्य का स्वभाव ही है। बात कहने की शास्त्रियों और वैज्ञानिकों की अनोखी सिफत होती है। मामूली आदमी इतना ही जानता है कि जो दुनिया बन रही है वह मनुष्य के नाप की नहीं बन रही है। उसमें मनुष्य अपने-आप को अजनबी, अपरिचित-सा पाता है।

सर्वोदय का उद्देश्य संसार को मनुष्य के नाप का, मनुष्य के जीने और फूलने-फलने के लिए अनुकूल बनाना है। 'मनुष्य के लिए' से मतलब किसी एक मनुष्य के लिए या अधिक से अधिक मनुष्यों के लिए नहीं। 'मनुष्य के लिए' याने हरएक मनुष्य के लिए, सब

मनुष्यों के लिए। उपयोगितावादी मिल ने कहा, 'हमारा उद्दिष्ट अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख है।' सर्वोदय के प्रवक्ता गांधी ने कहा, 'नहीं, नहीं। हमारा उद्दिष्ट सभी मनुष्यों की अधिक से अधिक भलाई है।'

मिल ने एक और मजे की बात कह डाली । उसने कहा, 'अगर हरएक आदमी अपना-अपना भला देख ले तो कुल मिलाकर सबका भला हो जायगा।' मिल का यह प्रमेय अगर गणित की भाषा में रखा जाय तो उसकी तर्कदुष्टता तुरन्त ध्यान में आ जायगी। मिल का कहना है कि "अगर 'अ' 'अ' का हित चाहे, 'ब' 'ब' का हित चाहे और 'क' 'क' का हित चाहे तो 'अबक' मिलाकर 'अबक' का हित चाहेंगे। अर्थात् अ+ब+क=अxबxक ।" मतलब यह कि मिल के मत अनुसार अबक की भलाइयों का जोड़ अबक के गुणाकार के बराबर यानी उनकी संयुक्त भलाई के बराबर है । इसे सामाजिकता या समाजशीलता नहीं कहते । समाज का हरएक व्यक्ति यदि अपने लिए जीये तो सब मिलकर सबके लिए जीयेंगे। हरएक अपने लिए जीयेगा और अपने जीने के लिए दूसरों के जीने में रुकावट भी करेगा। इसी का नाम स्पर्द्धा, विग्रह, होड़ या संघर्ष है । स्वार्थों के इस विरोध में से आज के समाज की सारी उलझनें और दिक्कतें पैदा हुई हैं ।

जो नीचे है वह ऊपर आना चाहता है और जो पीछे है वह आगे चाहता है। नीचेवाले ऊपरवालों को दबोचकर ऊपर आने की कोशिश करते हैं और पीछेवाले आगेवालों को पीछे की तरफ खींचकर खुद आगे बढ़ना चाहते हैं। इसमें से वर्गसंघर्ष की मनोवृत्ति पैदा होती है। एक प्रसंग सहसा याद आता है। एक लड़का स्कूल में से झुँझलाता हुआ घर लौटा और सीधा देवघर में जाकर देवता की मूर्ति के सामने फूट-फूटकर रोने लगा और दाँत पीसकर कुछ प्रार्थना करने लगा। पूछा, 'देवता से क्या कह रहे हो ?' बोला, 'भगवान् से विनती कर रहा हूँ कि अगले जन्म में मुझे मास्टर बना और इस मास्टर को लड़का बना। तो बेंत मार-मारकर चमड़ी उधेड़ दूँगा। प्रभु इतनी तमन्ना पूरी करें।' कहावत है कुछ दिन सास

के होते हैं और कुछ बहू के। बहू मानती है कि 'भगवान् वह दिन जल्दी आने दे जब इस डाइन बुढ़िया की छाती पर मूँग दलूँगी।'

वर्ग-संघर्ष की भावना कुछ इसी तरह की मनोदशा पैदा करती है। मजदूर सोचता है कि 'जब मेरा राज होगा तो आज के सारे हुजूरों को कोल्हू में जोतूँगा। तब इन्हें पता चलेगा कि हमें क्या कष्ट होता है।' उसकी कल्पना के रामराज में आज के हुजूर मजूर बनेंगे और आज के मजूर हुजूर बनेंगे। श्रमिकों के अधिनायकत्व का यही अर्थ उसकी समझ में आता है। वह न आपका द्वंद्वात्मक भौतिकवाद जानता है और न मार्क्सवादी क्रांति की प्रक्रिया। किसान मजदूरों की अनियंत्रित सत्ता का उसके दिल में जो अर्थ है वह इतना ही है, आज के किसान मजदूर कल राजा बनेंगे और आज के अमीर-उमरा तथा सेठ-साहूकार उनके गुलाम बनेंगे। पुराने जमाने के यमदंड की कल्पना से इसकी कुछ तुलना की जा सकती है। यहाँ पर जो दूसरों के साथ जिस तरह का अन्याय करता है उसे यमराज उसी तरह की सौगुनी यंत्रणा देते हैं। साधारण मनुष्य के दिल में वर्ग-संघर्ष प्रतिशोध और बदले की प्रक्रिया में परिणत हो जाता है।

अपनी विचारधारा की विशेषता बतलाने के लिए गांधीजी ने कहा था कि 'मेरे सपने के रामराज में राजा और रंक का रुतबा बराबरी का होगा।' बड़े-बड़े बुद्धिमानों ने उनकी बात को जबर्दस्ती गलत समझा। बड़ी कड़ी आलोचना हुई गांधीजी की। एक विद्वान् आलोचक ने लिखा, 'क्या खूब, इस रामराज में राजा भी होंगे और रंक भी होंगे, ऐसे रामराज को जयरामजी की ! वह गांधीजी को ही मुबारक हो।'

गांधीजी की बात ठंढे दिमाग से सोचने की फुर्सत किसे थी ? अगर मैं यह कहूँ कि हमारी समाज-व्यवस्था में ब्राह्मण और भंगी होंगे तो क्या उसका यह मतलब होगा कि ब्राह्मण ब्राह्मण रहेगा और भंगी भंगी रहेगा ? मेरे कथन के दो ही तर्कसंगत अर्थ हो सकते

हैं । एक तो यह कि न ब्राह्मण ब्राह्मण होगा और न भंगी भंगी होगा। या फिर यह कि जो ब्राह्मण है वह भंगी भी होगा, और जो भंगी है वह ब्राह्मण भी होगा। तभी ब्राह्मण और भंगी की प्रतिष्ठा तुत्य होगी। गांधीजी का मतलब यह था कि मेरे रामराज में राव ही रंक होगा 'और रंक ही राव होगा' यानी राव-रंक में कोई भेद नहीं रहेगा। आज का राव कल का रंक नहीं होगा और आज का रंक कल का राव नहीं होगा। जो आज हुजूर हैं वे हुजूर नहीं रहेंगे, जो मजूर हैं वे मजूर नहीं रहेंगे, दोनों हुजूर होंगे, दोनों मजूर होंगे। सभी हुजूर होंगे। सभी मजूर होंगे। निषेधात्मक भाषा में, न कोई हुजूर होगा न कोई मजूर होगा। जिसे वर्गहीन समाज की भाषा कहते हैं । रामराज की भाषा में 'राम राजा, राम प्रजा, राम साहूकार' होगा। यह गांधीजी का रामराज है। और सब हरामराज है।

हरामराज का मतलब भी जरा समझ लें। जो दूसरों के भरोसे खाता है उसे लोग मुफ्खोर कहते हैं। मुफ्त के खानेवाले को हराम का खानेवाला भी कहते हैं। जो दूसरों की मेहनत का फल बगैर कौमत चुकाये चखता है उसे हराम का खानेवाला कहते हैं । उचित परिश्रम के बिना उपभोग की सुविधा जिस व्यवस्था में हो वह हरामराज है। जुआ और सट्टा हरामराज के प्रमुख प्रतीक हैं। कम-से-कम मेहनत का ज्यादा से ज्यादा फल सट्टे और जुए का मूलभूत सिद्धान्त है। हमने लॉटरी में एक रुपये का टिकट खरीदा, बदले में एक मोटर मिल गयी । बड़े भाग्यवान साबित हुए। दूसरे ने भी एक रुपये का टिकट खरीदा, बदले में लेमनड्राप की एक टिकिया मिली। बेचारा अपनी किस्मत को कोसने लगा। इस तरह की समाज-व्यवस्था में एक हद तक 'टके सेर भाजी टके सेर खाजा' वाला न्याय होता है ।यह चौपट राज है । जिस अर्थव्यवस्था में मुफ्तखोरों की और अवकाशभोगियों की प्रतिष्ठा है वह रामराज नहीं, हरामराज है। उसमें सर्वोदय की गुंजाइश कहाँ ?

सर्वोदय की व्यवस्था में कोई अपने लिए नहीं जीता। हरएक सबके लिए जीता है इसीलिए सब मिलकर सबकी संयुक्त भलाई सिद्ध करते हैं। अगर हरएक अपने-अपने

लिए जीये तो जो सबसे तगड़ा होगा वही सबसे अधिक सफल भी होगा। जो सबसे अधिक समर्थ होगा वही जीवन का अधिकारी होगा। यह सामजधर्म नहीं है, इसे मत्स्यन्याय कहते हैं। मत्स्यन्याय से कोई समाज नहीं बनता। कोई झुंड तक नहीं बनता। भेड़िया सबसे क्रूर और पेटू जानवर माना जाता है लेकिन झुंड बनाकर रहते हैं। अर्थात् वे एक-दूसरे को नहीं खाते। भेड़िये भी एक-दूसरे को खाने लगें तो उनका झुंड नहीं बनेगा। चोर एक-दूसरे की चोरी करने लगे तो उनका गिरोह नहीं बनेगा। उन्हें भी आपस में ईमान निबाहना होता है। सामाजिकता की यह शर्त है कि आदमी एक-दूसरे को न खाये और न चूसे । इसी का नाम तो अहिंसक और शोषणहीन समाज है।

उस दिन राऊ में विनोबा ने कहा कि 'सर्वोदय का आरंभ अंत्योदन से होता है।' रवि ठाकुर की भाषा में 'सबार नीचे सवार पीछे।' यानी जो सबसे नीचे और सबसे पीछे है उसको इस पृथ्वी की विरासत मिलेगी। एक मित्र ने मुझसे कहा, कि 'विनोबा ने बड़ी जबर्दस्त बात कह दी। उसका तो यह मतलब हुआ कि जो सबसे नीचे है वह मीर होगा। और आज जो अव्वल है वह फिसड्डी होगा।' यह सर्वोदय की कल्पना नहीं है। आखिर पहला और फिसड्डी ये दो सिरे हैं । कौन-सा पहला और कौन-सा आखिरी इसका निश्चय गुण के अनुसार होता है। लेकिन जब सभी समान गुणवान हों तो चाहे जिस सिरे से पहला गिन सकते हैं। पहले और आखिरी में कोई वास्तविक भेद नहीं होगा, दोनों बराबर होंगे। जैसे आज इस पृथ्वी पर पूरब और पश्चिम है, पृथ्वी गोल है, पूरब पश्चिम में परिणत हो जाती है और पश्चिम का ही पर्यवसान पूर्व में हो जाता है; उसी प्रकार सर्वोदय में न तो कोई आद्य होगा न अंत्य होगा। आदि और अंत दोनों समान होंगे। तभी तो अंत्योदय सर्वोदय होगा। सर्वोदय की प्रक्रिया का आरंभ अंत्योदय से है। उसकी परिसमाप्ति विश्वोदय में है। सर्वोदय के मानी है सर्वतः उदय, सार्वत्रिक उदय और सार्वजनिक उदय।

५-८-१९४९

२. राष्ट्रीयता

१. **जाति या वर्ग-निष्ठ शिष्टाचार**

२. **राष्ट्रीयता पर रामानन्द बाबू**

३. **विधायक और व्यावर्तक राष्ट्रीयता**

४. **राष्ट्रीय सप्ताह की विशेषता**

५. **ब्रिटिश सत्ता का समर्थन**

६. **सार्वत्रिक अविश्वास का प्रतिबिंब**

७. **आत्मरक्षा की दोहरी समस्या**

८. **शुद्धिकरण की पुकार**

१. जाति या वर्ग-निष्ठ शिष्टाचार

हमारी दृष्टि इतनी जातिनिष्ठ और वर्गनिष्ठ बन गयी है कि हमारा शिष्टाचार और शुभ व्यवहार भी उसकी सीमा को नहीं लाँघ सकता। हम अपने वर्ग और अपनी जाति के लिए जो नीति या शिष्टाचार उपयुक्त समझते हैं वह, जिन्हें हम नीचा या कनिष्ठ मानते हैं, उनके लिए उपयुक्त नहीं समझते। इसीलिए मजदूरों का और खासकर नौकरों का एक ऐसा वर्ग माना जाता है जिसके साथ लगभग मनुष्यतर प्राणियों जैसा व्यवहार किया जाता है। हमारा छोटा-सा बच्चा जिसे धोती पहनने का भी सहूर नहीं है, सयाने नौकर या मजदूर को तूकारता है। मगर नौकर या मजदूर चाहे जिनता बूढ़ा और सदाचारी क्यों न हो, उस बच्चे से हमेशा 'आप' कहेगा। वह हमारे साथ एक या समान आसन पर बैठ नहीं सकता, हमारे पड़ोस में बैठकर उसी तरह का ताजा भोजन उसी तरह के बासनों में नहीं कर सकता। हमें सर्दी या गर्मी से जो कष्ट होता है, वह हमारी समझ में उसे नहीं होता। बीमारी में भी उसे आराम की इच्छा या जरूरत नहीं होती। सुख-दुःख, नीति-अनीति और भले-बुरे का जो मापक हमारे लिए है वह उसके लिए नहीं है। किसी साहूकार या जमींदार ने अगर हमारा अपमान कर दिया तो हमें गुस्सा तो आता है, लेकिन यदि उसका कोई नौकर हमारा जरा-सा अनादर कर दे तो हम अपने-आप को सम्हाल ही नहीं सकते। हमारा अपमान या बेआबरूई भी वर्गनिष्ठ होनी चाहिए, यह हमारा आग्रह है। बात बहुत छोटी है; लेकिन यह हमारी जातिनिष्ठ और वर्गनिष्ठ सभ्यता की द्योतक है। हमारी शिक्षा-प्रणाली भी इस संकीर्ण वृत्ति का नाश नहीं कर पायी है। इससे पता चलता है कि समाज में मनुष्यता का भाव कितना गिर गया है और फुटकर चीजों का मूल्य कितना बढ़ गया है।

किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि भारत में लोकशाही तो है परन्तु वह जातिनिष्ठ है। गरीब ब्राह्मण और अमीर ब्राह्मण में भेद नहीं है, लेकिन गरीब ब्राह्मण और धनवान्

क्षत्रिय में है। इस जाति-वाद की आग में अब वर्गवाद और व्यवसाय-वाद का तेल डाल दिया गया है। अगर हम दरअसल समाज में मनुष्य की (जाति-वर्ग-व्यवसाय) निरपेक्ष प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते हों तो हमें अपने बच्चों को इन आगंतुक भेदों को दूर करने की शिक्षा देनी चाहिए। निदान इतना तो उनसे साफ कह देना चाहिए कि वे इस मामले में हमारा अनुकरण हरगिज न करें।

जनवरी, १९३९

२. राष्ट्रीयता पर रामानन्द बाबू

फरवरी के 'मॉर्डर्न रिव्यू' से एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी नीचे दी जाती है : "संसार में ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ किसी एक ही धर्म के अनुयायियों का समूह—चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो—अपने-आप में एक राष्ट्र माना जाता हो। परन्तु श्री वि. दा. सावरकर की राय इसके विपरीत है। वे ऐसा मानते हैं कि हिन्दू लोग ही भारतीय राष्ट्र हैं; क्योंकि उनकी संख्या इस देश में सबसे अधिक है। हम इससे सहमत नहीं हैं। उनकी इस राय से कुछ हिन्दुस्तानी मुसलमानों की इस कल्पना का कि वे एक स्वतंत्र राष्ट्र हैं, अप्रत्यक्ष समर्थन होता है।

अगर भारतीय राष्ट्र सिर्फ हिन्दुओं का ही हो, तो फिर ब्रिटिश राष्ट्र प्रोटेस्टेन्ट मत के ब्रिटिशों का ही होगा, क्योंकि उन्हींकी तादाद सबसे बड़ी है। जो ब्रिटिश लोग कैथोलिक, यहूदी या मुसलमान हैं, या जो अज्ञेयवादी अथवा नास्तिक हैं, उनकी गिनती ब्रिटिश राष्ट्र में नहीं हो सकती।

अमेरिका में ऐसा कौन-सा एक ही वंश, धार्मिक जमात, भाषा या उपराष्ट्र है जिसे हम अमेरिकन राष्ट्र कह सकें ? वहाँ तो इतने बहुत-से हैं !

सोवियत रूस में कम से कम सौ उप-राष्ट्र हैं । उनमें कई धर्म हैं और कितने ही नास्तिक भी हैं। मोटे हिसाब से वे कोई दो सौ भाषाएँ बोलते हैं। क्या वे एक राष्ट्र हैं ?

जो मुसलमान यह समझते हैं कि उनकी अपनी एक अलग भारतीय संस्कृति है उनसे हम सहमत नहीं हैं। केवल सरहद प्रांत में बोली जानेवाली पश्तु के सिवा, जो भारतीय भाषाएँ दूसरे प्रान्तों के मुसलमानों की मातृभाषाएं हैं वे ही वहाँ के हिन्दुओं की भी मातृभाषाएँ हैं। उर्दूभाषा और साहित्य तो हिन्दू और मुसलमानों के सम्मिलित प्रयत्न का फल है। दूसरे सारे प्रान्तीय साहित्य उन-उन प्रान्तों के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी

अधिवासियों के हैं। भारत के सभी धर्मों के लोगों के लिए हिन्दुस्तानी संगीत समान है। भारतीय कला भी सबकी संयुक्त सम्पत्ति और संयुक्त उद्योग है।

इस विषय की इससे अधिक विस्तृत चर्चा एक छोटी-सी टिप्पणी में नहीं की जा सकती।

बंगाल के कुछ मुसलमानों की सम्मति

रामानन्द बाबू हिन्दू महासभा के एक प्रतिष्ठित नेता हैं। इस दृष्टि से उनकी उक्त टिप्पणी का महत्त्व है। लेकिन हिन्दुस्तान के सभी मुसलमान श्री मुहम्मद अलीं जीना या उनके विचार के लोगों के साथ नहीं हैं इसका सबूत मॉडर्न रिव्यू के इसी अंक में प्रकाशित एक वक्तव्य से मिलता है, जो बंगाल के चंद प्रतिष्ठित मुसलमानों ने २५ जनवरी, १९४० को, २६ जनवरी के स्वतंत्रतादिन के उपलक्ष्य में प्रकाशित किया था। इस वक्तव्य का पहला वाक्य नीचे दिया जाता है।

"इसलाम सदा से समानता, स्वाधीनता, विश्वबंधुत्व, लोकसत्ता; और राष्ट्रीयता का हामी रहा है। अति प्राचीन काल से ही हम मुसलमान यह मानते आये हैं कि एक देश में एक ही राष्ट्र होता है और राष्ट्रीयता से रंग, धर्म या जाति के भेदों का कोई संबंध नहीं है। इसलिए हिन्दुस्तान में, हिन्दू, मुसलमान, जैन, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि का बना हुआ एक ही राष्ट्र है ।"

मार्च, १९४०

३. विधायक और व्यावर्तक राष्ट्रीयता

दुनिया के विचारकों में दो पक्ष हैं—एक वह जो प्रत्येक वस्तु का विचार स्वतंत्र रूप से करता हुआ भी यह नहीं भूलता कि प्रत्येक चीज ईश्वर की सृष्टि का एक घटक है और दूसरे घटकों से उसका अनिवार्य सम्बन्ध है। यह विधायक दृष्टि है। दूसरा पक्ष प्रत्येक वस्तु को दूसरी सारी वस्तुओं से भिन्न देखकर उनके भेद की महिमा का वर्णन करना ही अपना परम कर्तव्य मानता है। इस भेदवादी दृष्टि को व्यावर्तक दृष्टि कहते हैं।

लक्षण भी दो प्रकार के होते हैं। विधायक और व्यावर्तक । 'मनुष्य बुद्धिशील जीव है,' मनुष्य की विधायक परिभाषा है। लेकिन 'मनुष्य ऐसा कुछ है, जो दूसरी सारी वस्तुओं से भिन्न है'—यह मनुष्य की व्यावर्तक परिभाषा है।

हमारी राष्ट्रीया की भी दो प्रकार की व्याख्याएँ की जाती हैं—एक कहते हैं कि 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है', और दूसरे कहते हैं कि 'भारतीयत्व या हिन्दुस्तानीपन राष्ट्रीयत्व है '। 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है' यह आपातत: राष्ट्रीयता की विधायक व्याख्या प्रतीत होती है । परन्तु वस्तुतः वह व्यावर्तक और व्यवच्छेदक है । हरएक हिन्दू की यह जन्मभूमि और धर्मभूमि भी है; इसलिए उसकी राष्ट्रभावना दुहरी और दुगुनी है। अत: यह स्वीकार है कि 'हिन्दुत्व राष्ट्रीयत्व है'। लेकिन इसके विपरीत यह नहीं कहा जा सकता कि 'राष्ट्रीयत्व हिन्दुत्व है।' 'सभी कौए पक्षी हैं,' लेकिन 'सभी पक्षी कौए नहीं हैं ।' सारांश, हिन्दुत्व की अपेक्षा राष्ट्रीयत्व अधिक व्यापक संज्ञा है । राष्ट्रीयत्व में हिन्दुत्व भी है, इस्लामीत्व भी है, क्रिस्तीत्व भी है और पारसीकत्व भी है। कम-से-कम इन सारे भावों में और राष्ट्रीयत्व में अविरोध तो है ही। इसलिए 'हिन्दुत्व राष्ट्रीयत्व है,' इतना कहना स्वीकार है। परन्तु 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है,' यह कहना न तो युक्तिसंगत है और न वस्तुस्थिति का निदर्शक। इस विषय की इससे अधिक मीमांसा एक छोटी-सी टिप्पणी में नहीं की जा सकती।

'हिन्दुस्थान हिन्दुस्थानियों का'

'हिन्दुस्थान हिन्दुओं का, नहीं किसी के बाप का,' के नारे आजकल बहुत जोरों से लगाये जाते हैं। इसके पूर्वार्ध से किसी का कोई मतभेद नहीं हो सकता। लेकिन इस वाक्य के दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं: एक विधायक या संग्राहक और दूसरा व्यवच्छेदक। 'हिन्दुस्थान हिन्दुओं का है'—यह हुआ विधायक का अर्थ। लेकिन यह कहना कि 'हिन्दुस्थान अकेले हिन्दुओं का ही है' इस वाक्य का व्यावर्तक अर्थ है। उसके उत्तरार्ध में यही अर्थ व्यक्त किया गया है। यह व्यवच्छेदक राष्ट्रवाद न तो आज के राजनैतिक विचारों के अनुकूल है और न हमारी राष्ट्रीय संस्कृति तथा परम्परा के । "मेरी माँ मेरी अपनी है"—इस वाक्य में मेरी ममता और श्रद्धा लबालब भरी है। परन्तु 'मेरी माँ मेरी ही है, न कि मेरे भाइयों की'—इस वाक्य में ममता और श्रद्धा की अपेक्षा स्वामित्व और बंधुद्वेष की भावना ही अधिक है। मेरी माँ उन सब भाइयों की भी है जो उसकी गोद को अपना आश्रयस्थान, उसके आँचल को अपना कवच तथा उसके दुलार को अपने जीवन का पाथेय मानने को तैयार हों। मेरी माँ जगत् की साम्राज्ञी नहीं है। वह तो जगन्माता है। वह अपनी गोद में बड़े प्रेम से सभी को खिलाती है।

जो यह कहें कि "हिन्दू गुलाम हैं, गुलाम रहने के काबिल हैं, न उनका कोई देश है न वतन।" उनसे हम आत्मविश्वास के हुंकार से यह कहें कि "हिन्दुस्थान हिन्दुओं का है।" लेकिन उसमें व्यावर्तक उत्तरार्ध जोड़ देने में न तो संस्कृति है, न वीरता है और न स्वाभिमान ही है। वह तो एक बालिश प्रलाप है, जो न तो वैज्ञानिक है और न युक्तिसंगत । हमारी राष्ट्रभावना का सूत्र व्यापक, सर्व-संग्राहक और प्रगति-सूचक होना चाहिए। वह तो यही हो सकता है कि "हिन्दुस्थान हिन्दुस्थानियों का है।"

४. राष्ट्रीय सप्ताह की विशेषता

ता. ६ से ता. १३ अप्रैल तक का सप्ताह राष्ट्रीय सप्ताह के नाम से मशहूर है। इसी एक सप्ताह को 'राष्ट्रीय सप्ताह' का अभिधान क्यों दिया गया ? भेदवादी राष्ट्रवाद के इस जमाने में हमें इस बात की याद दिलाना जरूरी है कि यही एक सप्ताह राष्ट्रीय सप्ताह' क्यों कहलाया ?

इस सप्ताह की दो विशेषताएँ हैं । तारीख ६ अप्रैल, १९१९ को सारे भारतवर्ष के सभी धर्मों और जातियों के वाशिन्दों ने क्रियात्मक राष्ट्रधर्म का उपक्रम किया। इससे पहले १९०८ की १६ अक्टूबर को सारे बंगाल ने 'बहिष्कार-दिन' क्रियात्मक रूप से मनाया था। लेकिन १९१९ की ६ अप्रैल को सारे भारतवर्ष ने एकदिल होकर 'सत्याग्रह-दिन' मनाया । उसी दिन '**शाब्दिक राष्ट्रवाद**' का अन्त होकर '**आचारात्मक राष्ट्रधर्म**' का श्रीगणेश हुआ। यह हुई एक विशेषता।

इस सप्ताह की दूसरी विशेषता अद्वितीय है। ता. १३ अप्रैल, १९१९ को अमृतसर के जलियानवाला बाग में विभिन्न धर्मों के और जातियों के हिन्दुस्तानियों के खून से इस देश की पवित्र भूमि सींची गयी और उसमें हिन्दुस्तान की 'अविभाज्य संयुक्त राष्ट्रीयगा' (नाकाबिले तकसीम मुत्तहिदा कौमियत) के बीज बोये गये। कहते हैं कि 'पानी से खून गाढ़ा होता है।' निरपराधियों का खून तो सिर्फ गाढ़ा ही नहीं, पाक भी होता है। ता. १३ अप्रैल, १९१९ को भारत की विभिन्न धर्म और जातियों में बँटी हुई वीरात्माओं ने यह खून का रिश्ता पक्का किया। अब हिन्दुस्तान के टुकड़े करने का अरमान रखनेवाले लोग इस कौमियत को तोड़ना चाहते हैं। इसलिए हमें खास तौर पर इस राष्ट्रीय सप्ताह की मौलिक भावना का स्मरण करना चाहिए और उसे जीवित रखने की भरसक कोशिश करनी चाहिए।

अप्रैल, १९४०

५. ब्रिटिश सत्ता का समर्थन

कुछ दिन हुए एक प्रमुख शहर में हिन्दू मुसलमानों का भीषण दंगा हुआ। दोनों तरफ के कुछ स्वयंनियुक्त नेताओं ने एक-दूसरे के खिलाफ वक्तव्य निकाले और दंगा शुरू करने का इलज़ाम अपने-अपने प्रतिपक्ष पर लगाने की चेष्टा की । इन वक्तव्यों में एक विशेषता यह थी कि मुसलमान नेताओं ने हिन्दू अफसरों पर अनुचित पक्षपात का आरोप लगाया और हिन्दू नेताओं ने मुसलमान सरकारी कर्मचारियों पर। मतलब यह कि दोनों ने इस बात का सबूत पेश किया कि बगैर अंग्रेज सरकार के खैरियत नहीं है।

श्री रशब्रुक विलियम्स की दलील

'ऑक्सफर्ड पेम्फ्लेट्स' में नम्बर बत्तीस की पुस्तिका भारत सरकार के सुप्रसिद्ध भूतपूर्व प्रकाशनाधिकारी श्री रशब्रुक विलियम्स की लिखी हुई है। श्री रशब्रुक विलियम्स ब्रिटिश राजनीति के कुशल समर्थक और योग्य प्रचारक समझे जाते हैं । अपनी पुस्तिका में उन्होंने भारत में गोरी फौज की उपस्थिति की अनिवार्यता की बड़ी ही कुशलता से प्रतिपादन किया है। आप कहते हैं:

"आधुनिक भारत के लिए ब्रिटिश सैनिक की उपयोगिता केवल उसकी सैनिक और व्यावसायिक योग्यताओं के कारण ही नहीं है; बल्कि उसकी निष्पक्षता के सबब से है। वह हिन्दुस्तान के जातीय तथा साम्प्रदायिक दायरों से बाहर होता है, इसलिए वह अपनी योग्यताओं का प्रयोग इस तरह कर सकता है कि लोगों को यह विश्वास हो जाय कि उसका आचरण पक्षपात-रहित है।" (The utility of the British soldier to modern India consists, not only in his professional military capabilities, but in the impartiality which enables him, standing as he does outside the

borders of Indian castes and creeds, to exercise these capabilities in a way which convinces the public that his action is free from bias. p.13)

आगे चल कर श्री विलियम्स लिखते हैं:

"इन और दूसरे कई कारणों से भावनाएँ भड़क उठती हैं और बात की बात में दंगा शुरू हो जाता है। गुण्डे और दंगई इस गड़बड़ से तुरन्त लाभ उठाते हैं और अमन कायम करने के लिए कानून और व्यवस्था की शक्तियाँ अपनी सारी ताकत लगा कर लड़ती हैं। ऐसी परिस्थितियों में अक्सर मुल्की पुलिस की मदद के लिए फौजी अफसरों को आना पड़ता है। जनता इस बात की आदी हो गयी है और, सच तो यह है कि अमनपरस्त नागरिक उनकी तुरन्त माँग भी करता है। ऐसे मौकों पर ब्रिटिश सैनिक अनमोल साबित होता है। वह बिलकुल निष्पक्ष होता है; क्योंकि वह न हिन्दू है और न मुसलमान। इसके अलावा, वह बड़ा नेकमिजाज होता है और भड़काये जाने पर भी अपने-आप को काबू में रख सकता है।" (From these and many other causes feelings become inflamed and in the twinkling of an eye a riot starts. Advantage is promptly taken of the confusion by roughs and gangsters, and forthwith the forces of law and order are fighting desparately to restore the peace. Often in such circumstances the military authorities have to come to the aid of the civil police, a step to which the public are well accustomed and which, indeed, the peaceful citizen promptly demands. It is at such junctures as these that the British soldier is invaluable. He is quite impartial, being neither a Hindu nor a Muslim, is good-tempered, and has self-control under provocation. p.6)

सरकार की भेदनीति

इससे स्पष्ट है कि गोरी फौज और अंग्रेज हुकूमत की आवश्यकता का समर्थन करने के लिए भारत में साम्प्रदायिक अविश्वास और कलह बनाये रखने की जरूरत है। इस पर से अगर यह अनुमान किया जाय कि साम्प्रदायिक झगड़ों को चिरस्थायी बनाने की कोशिश अंग्रेज सरकार करती रहती है, तो क्या वह बिलकुल ही बे-सिर-पैर का कहा जा सकता है ? लेकिन थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि अंग्रेज सरकार इन अदावतों और झगड़ों को उभाड़ती या बढ़ाती नहीं है, तो भी यह तो साफ ही है कि वह उनका निबटारा करना नहीं चाहती। क्योंकि उस हालत में उसका अपना आसन ही डाँवाडोल हो जायगा।

लेकिन सरकार को भला-बुरा कहने से हमारा लाभ नहीं हो सकता। सरकार तो दाँवपेचों की राजनीति में पली-पोसी है और उसी नीति पर आज भी पुष्ट हो रही है। इसलिए अगर वह अपने फायदे की चालें चले, तो हमारा उसे कोसना शोभा नहीं देता।

हमारी नादानी

परन्तु आश्चर्य और खेद का विषय तो यह है कि हम हिन्दुस्तानी अपने व्यवहार से अंग्रेजी राज की बुनियाद मजबूत करने में अपने जीवन की सफलता अनुभव करते हैं। कुरबानी की गाय का जुलूस ब्रिटिश सैनिकों की संगीनों के पहरे में निकालने में मुसलमान नैष्ठिक धर्माचरण की धन्यता अनुभव करता है और गोरी फौज की निगरानी में मस्जिद के सामने से बाजे बजाते हुए गुजरने में हिन्दू नादब्रह्म के साथ तल्लीनता महसूस करता है। जब तक यह हालत रहेगी तब तक ब्रिटिश शमशेर की सत्ता रहेगी।

दिसंबर, १९४१

६. सार्वत्रिक अविश्वास का प्रतिबिम्ब

तारीख छब्बीस दिसम्बर को अखिल भारतीय मुस्लिम विद्यार्थी परिषद में सभापति के नाते भाषण देते हुए श्री मुहम्मद अली जीनासाहब ने कहा, "Muslims have no friends. They are surrounded by opponents in all direction." (मुसलमानों का कोई दोस्त नहीं है। वे चारों तरफ से दुश्मनों से घिरे हुए हैं।)

यह हकीकत नहीं है; जीनासाहब की धारणा मात्र है । यह धारणा पाकिस्तानी मनोवृत्ति का सीधा परिणाम है। श्री जीनासाहब ने यह मान लिया है—और बरबस मान लिया है—कि हिन्दुओं के साथ रहने से उनका मजहब, तहजीब और अदब सलामत नहीं रह सकते; इसलिए उनको अपना अलग राज्य बना लेना चाहिए। उसे वह 'पाकिस्तान' कहते हैं। जिस हिस्से में मुसलमान कसरत से रहते हैं, वह 'पाक' है। पाकिस्तान-वाद की तह में यह भावना छिपी हुई है कि बिन्नधर्मीय लोग एक ही देश में समान नागरिकों के नाते नहीं रह सकते। अर्थात् धर्म मनुष्यों को एक-दूसरों के साथ रहने के नाकाबिल बना देता है। यह सिद्धांत भयावह ही नहीं; अमानुष है। इसीलिए पाकिस्तानवाद केवल राष्ट्रीय दृष्टि से ही नहीं अपितु यथार्थ धार्मिक दृष्टि से भी अनार्थावह है।

यही व्यावर्तक भावना दूसरे सम्प्रदायों में प्रति-व्यावर्तक भावनाएँ पैदा करती है, जिनका नतीजा 'पुण्यभूमि' और "हिन्दुस्तान हिन्दुओं का' ऐसे उद्घोष हैं।

जीनासाहब कहते हैं कि गांधीजी अपने विधायक कार्यक्रम की तेरह बातों में चौदहवाँ पाकिस्तान और जोड़ दें, तो हिन्दू-मुसलमानों का समझौता बहुत ही आसान हो जाय। बात बड़े मजे की है। जीनासाहब कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमान अगर एक-दूसरे से अलग हो जायँ और अपनी-अपनी अलग खिचड़ी पकाने लगें, तो उनका टण्टा मिट जायगा। जब एक-दूसरे के साथ ही नहीं रहेंगे, तो टण्टे का प्रसंग ही कहाँ रहेगा ? टण्टा मिटाने की

यह युक्ति नयी भले ही न हो, लेकिन अजीब जरूर है। एक-दूसरे से मुँह मोड़ कर अलग हो जाने की यह नीति अगर दुनिया में फैलने लगे, तो मनुष्यों में सह-जीवन के विकास की कोई आशा नहीं रहेगी। गांधीजी तो भारत में एक अखण्ड तथा अविभाज्य संयुक्तराष्ट्र का विकास करना चाहते हैं और उसके द्वारा विश्वराष्ट्र के निर्माण में हाथ बँटाना चाहते हैं। उनका विधायक कार्यक्रम उसका साधन है। वह भला पाकिस्तानवाद का विष उसमें कैसे दाखिल होने देंगे ? पाकिस्तान जैसी जहरीली विषम भावना का ही प्रतिबिम्ब श्री जीनासाहब का सार्वत्रिक अविश्वास और विश्वतोमुखी सन्देहवृत्ति है। ऐसी भावनाओं के प्रकोप से मानवता को बचाने में श्री जीनासाहब जैसे बुद्धिमान और मजहब-परस्त व्यक्तियों को जुट जाना चाहिए।

३०-१२-१९४१

७. आत्मरक्षा की दोहरी समस्या

'हिन्दुस्तान की जनता में अभी तक आत्मरक्षा का उत्साह और उत्कटता क्यों जाग्रत नहीं होती ?'—यह सवाल हिन्दुस्तान के लोक-नेताओं, हितैषियों और अंग्रेज सरकार को भी हैरान कर रहा है। हिन्दुस्तान के लोक-नेताओं ने उनके कारण का शोध वर्षों पहले लगा लिया है और वे उसके निराकरण का उपाय भी उच्च स्वर से बतलाते रहे हैं। लेकिन स्वार्थान्ध सरकार ने आँखें होकर भी न देखने का और कान होकर भी न सुनने का निश्चय ही कर लिया है।

हिन्दुस्तान को संरक्षण-क्षम और संरक्षण-तत्पर बनाने के एकमात्र अचूक और सम्यक् उपाय का प्रयोग करने के बदले वह भारतरक्षा-कानून का प्रयोग करने में व्यस्त है। कल जो लोग भारतीय राष्ट्र के विश्वस्त और सुयोग्य प्रतिनिधियों के नाते इस देश का शासन का संचालन करते थे, उन्हींको 'भारत-रक्षा' के लिए जेलों में बन्द किया जा रहा है। इसलिए नहीं कि अब वे भारत की जनता के विश्वासभाजन नहीं रहे, इसलिए भी नहीं कि उनकी देश-भक्ति या योग्यता में कोई फर्क आ गया है, बल्कि इसलिए कि वे अंग्रेज सरकार की दांभिकता और पाखण्ड से बाज आने के लिए और अपनी घोषणाओं को कार्यान्वित करने के लिए आग्रहपूर्वक और निर्भयता से आह्वान कर रहे हैं। ऐसी भारतरक्षा के प्रति अगर भारतवासियों के दिलों में घोर विरोध और पुण्यप्रकोप की भावना जाग्रत न हो, तो वे मनुष्यता की पदवी के योग्य ही नहीं हैं।

असल बात यह है कि भारत के सामने अभी आत्मरक्षा का प्रश्न प्रत्यक्ष और वास्तविक रूप में उपस्थित ही नहीं हुआ है। हमारा आत्मरक्षा का प्रश्न सीधा और इकहरा नहीं है, वरन् जटिल और दोहरा है। सरकार लोगों को भुलावे में डालने के लिए इश्तिहारों, निवेदनों, समाचार पत्रों और जाने कितने साधनों द्वारा हजार तरह से कहती है, "चेतो,

सतर्क हो जाओ, विदेशी आक्रमण का खंजर सर पर लटक रहा है।" लोगों का हृदय अब तक वास्तविक और प्रामाणिकता को पहचानना नहीं भूला है। इसलिए वह कहता है, "कैसा विदेशी आक्रमण ? यह जो हमारे यहाँ डेढ़ सौ साल से मौजूद है, सो क्या स्वदेशी आक्रमण है ? भारत तो पादाक्रान्त और पराधीन देश है ही। अब जो विदेशी आक्रमण है वह एक विदेशी आक्रमण पर दूसरा विदेशी आक्रमण हो रहा है। याने, हमारें लिए या तो दो विदेशी आक्रमण परस्पर कट जायेंगे और उत्तर शून्य आयेगा, या फिर विदेशी आक्रमण x विदेशी आक्रमण (वर्ग) हो जायेगा।"

आत्मरक्षा की भावना की शर्त

एक कारण और भी है। सरकार विदेशी होने से उसका राज्य दरअसल पुराना और अपेक्षाकृत स्थायी आक्रमण ही है। इसलिए वह लोगों से हमेशा डरती रही है। वह बड़ी सावधानी और जागरूकता से लोकशक्ति को प्रकट होने से रोकती रही है। यही नहीं, बल्कि लोगों के असहाय और हतबल रहने में ही उसने अपनी कुशल देखी है। परिणाम यह है कि लोगों को सरकार का रत्तीभर भरोसो न होते हुए भी उन्हें हर बात में उसका मुँह ताकने की दुःसाध्य आदत हो गयी है। अब वे समझने लगे हैं कि कोई भी दैवी या भौतिक संकट आये, तो उससे हमारी रक्षा करने का दायित्व सरकार का है। हमारा तो परम धर्म निष्क्रियता ही है।

किसी राष्ट्र के पतन की चरम सीमा और क्या हो सकती है ? इस पतन का प्रधान कारण अंग्रेज सरकार है। जब तक यह सरकार मौजूद रहेगी, तब तक हरएक सवाल को हल करने के लिए उसका मुँह ताकने की लोगों की घातक आदत भी अवश्य बनी रहेगी। इसलिए गांधीजी अब इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि भारतीय राष्ट्र में आत्मरक्षा की भावना जगाने के लिए अंग्रेज सरकार का यहाँ से तुरन्त विदा हो जाना नितान्त आवश्यक है।

संरक्षकों से जनता तंग आ गयी

भारत की अशरणता और रक्षणाकांक्षिता कायम रखना ही साम्राज्यवादी अंग्रेज सरकार अपना परम कर्तव्य मानती है। इसलिए जब सर स्टॅफर्ड क्रिप्स से भारत के नेताओं ने कहा कि देश की रक्षा की सारी जिम्मेदारी सरकार हमें सौंप दे, तो जवाब मिला कि सरकार हरगिज ऐसा नहीं कर सकती, क्योंकि उसे अपने ऐतिहासिक उत्तरदायित्व के प्रति वफादार रहना है।

एक तरफ तो यह शेखी है और दूसरी तरफ से अंग्रेज सरकार के सेनापति अपनी अक्षमता के समर्थन में कहते हैं कि भारतवर्ष का किनारा इतना लम्बा-चौड़ा है कि हम मौके की जगहों का भी रक्षण नहीं कर सकते। और जनाब वाइसराय साहब फरमाते हैं कि हम सारी जनता को शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित नहीं कर सकते। भारत की जनता हैरान रह जाती है। उसके दिल में फौरन सवाल उठता है, "तो क्या लोगों को आप निःशस्त्र और हतबल करना ही जानते हैं ? और क्या इसी पर आपको इतना नाज है ?" क्या आश्चर्य कि ऐसे अभिभावकों और संरक्षकों से जनता अब तंग आ गयी है और उनसे तुरन्त पिंड छुड़ाना चाहती है ?

अंग्रेजी आक्रमण यक्ष्मा है

कोई आक्रमण इसीलिए समर्थनीय या हितकर नहीं हो जाता कि वह कुछ पुराना है और चिरस्थायी होने के लक्षण बतलाता है। अगर ऐसा होता तो यक्ष्मा बड़ी उपादेय वस्तु बन जाती। क्योंकि उसमें प्राचीनत्व और चिसस्थायित्व ये दोनों लक्षण होते हैं। अगर जापान का आक्रमण हैजे या प्लेग के प्रकोप के समान है, तो ब्रिटिशों का आक्रमण हिन्दुस्तान के शरीर में घर करके बैठे हुए तपेदिक के मानिन्द है। हिन्दुस्तान अगर एक से बचना चाहता है, तो दूसरे से भी जान छुड़ाना चाहता है। जब तक एक पुराना आक्रमण विदेशी राज्य के

रूप में विद्यमान है, तब-तक भारत की जनता में यह चेतना ही पैदा नहीं होगी कि इस देश को विदेशी आक्रमण का डर है। अर्थात् गुलामी की हालत में यथार्थ और सम्यक् दृष्टिकोण का लाभ होना सर्वथा असम्भव है।

'पराजय-भावना' का सही इलाज

देश के नेताओं पर सरकार यह अभियोग लगाती है कि वे 'पराजय-भावना' पैदा करते हैं। जब किसी मनुष्य को यक्ष्मा हो जाता है, तो वैद्यराज शास्त्रीय परिभाषा में कहते हैं 'इसे क्षय की भावना हो गयी है।' 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'—जैसी भावना हो वैसा फल मिलता है। सरकार अनुभव करती है कि भारत में अंग्रेजों के पपाजय की भावना जोर पकड़ रही है। इसलिए वह जहाँ-तहाँ विजय के प्रतीक के रूप में v (व्ही) अक्षर का प्रदर्शन कराके विजय की भावना का निर्माण करना चाहती है। लेकिन वह नहीं जानती कि जब तक वचनानुरूप वर्तन न हो, तब तक शब्द बेजान और बेतासीर होते हैं। इसीलिए लोगों को जब कोई असुविधा सहनी पड़ती है, तो वे सोचते हैं, 'इसमें अंग्रेज सरकार का कसूर है।' उन पर कोई आफत आती है, तो वे कहते हैं, "इसके लिए अंग्रेज सरकार जिम्मेवार है।' सरकार अगर 'दीयाबन्दी' या हवाई हमले की कवायद कराती है, तो वे समझते हैं, 'हमें घबराहट और परेशानी में रखकर दूसरी बातों पर से हमारा ध्यान हटा लेने के लिए और हमें 'युद्धप्रवण' बनाने के लिए सरकार यह 'जुगत' लड़ाती है।। कल अगर सचमुच जापान के बम बरसने भी लगें, तो अपनी घबराहट, बेबशी परेशानी में भी वे कहेंगे, 'यह सब अंग्रेज सरकार की बदौलत है।' सैनिक प्रयोजन के लिए जब उनसे जमीन माँगी जाती है या स्वार्थ-त्याग करने के लिए कहा जाता है, तो वे यह महसूस नहीं करते कि यह सब हमारी हिफाजत और कल्याण के लिए हो रहा है। वे तो यही अनुभव करते हैं कि ये सारी तजबीजें और तदवीरें अंग्रेज सरकार का राज कायम रखने के लिए हो रही हैं।

इसलिए अगर देश में से पराजय की भावना का अन्त करना है, तो उसका वास्तविक उपाय भारत-रक्षा कानून का प्रयोग नहीं है, अपितु ब्रिटिश सत्ता का यहाँ से तुरन्त निवृत्त हो जाना ही है। अन्यथा, कटुता बढ़ेगी और कटुता के साथ-साथ निराशा में से उद्भूत होनेवाली ब्रिटिश सत्ता के पराभव की इच्छा एवं भावना प्रबल से भी प्रबलतर होगी।

कल्याण का अचूक मार्ग

गांधीजी देश की नब्ज अचूक जानते हैं। वह अंग्रेजी सत्ता के कट्टर से कट्टर दुश्मन और अंग्रेजों के अन्यतम मित्र हैं। सरकार कहती है, "सन्मित्र का लक्षण सिर्फ 'गुहयं च गृहति' याने गोपनीय बातों को छिपाना ही है।" गांधीजी कहते हैं, "सन्मित्र का प्रथम और प्रधान लक्षण 'पापान्निवारयति'—बुरे कामों से रोकना—है", ताकि छिपाने लायक कुछ रहे ही नहीं। अतएव वह बार-बार जोर दे-देकर कह रहे हैं, 'अगर हिन्दुस्तान को आत्म-रक्षा-परायण और आत्मरक्षण-शील बनाना हो, तो आप उसे अपने चंगुल से अविलंब मुक्त कर दीजिये। इसी में खैरियत है।'

मृत्यु की एकता

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दुस्तानियों को हरएक बात के लिए सरकार पर निर्भर रहने की आदत हो गयी है। यहाँ तक कि भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिए भी हम सरकार का मुँह ताकते हैं। लेकिन जैसा कि जून और जुलाई के अंकों में छपे हुए दीन-बंधु के लेखों से स्पष्ट है, सरकार का स्वार्थ हिन्दुस्तान में एक-राष्ट्रीयता की भावना का विकास न होने देने में ही है। इसलिए वह तो बराबर व्यवस्थित रीति से भेदनीति का अवलम्बन करती आयी है और करती रहेगी। क्योंकि यही उसकी अनीतिमूलक सत्ता का आधार है।

इसमें शक नहीं कि अंग्रेजी हुकूमत की बदौलत जिस देश में एक तरह की एकरूपता पैदा हो गयी है। लेकिन वह एकरूपता स्मशान की एकरूपता है, न कि जीवन

की। किसी मकान में आग लगा कर सारी चीजें भस्म हो जाने पर उनमें एक प्रकार की एकरूपता आ ही जाती है। लेकिन वह मृत्यु की एकरूपता होती है; जीवन की नहीं। भारतवर्ष भी एक विशाल कैदखाना बन गया और उसमें बन्द सारे कैदी समान रूप से गुलाम बन गये। ऐसी एकरूपता किसी भी राष्ट्र के उत्थान का आधार नहीं हो सकती; प्रत्युत् उसकी अधोगति और अवनति का ही साधन होती है।

झगड़े की जड़

इसलिए हमारे राष्ट्र-धुरीणों ने सांस्कृतिक समन्वय और धार्मिक तथा जातीय सामंजस्य पर अधिष्टित यथार्थ और जीवित राष्ट्रीयता का विकास करने का संकल्प किया और उसके लिए राष्ट्रनिर्माण के विधायक संगठन का सूत्रपात किया । हिन्दू- मुस्लिम एकता या सांप्रदायिक एकता इस संगठन का एक प्रमुख और अनिवार्य अंग है। साम्प्रदायिक झगड़े का मूल कारण परस्पर अविश्वास और भय है। जब तक परस्पर-अविश्वास या भय रहेगा, तब तक दोनों पक्ष बारी-बारी से सरकार की शरण लेंगे और भारतवर्ष की एक-राष्ट्रीयता तथा अखण्डता को खतरे में डालेंगे।

सरकार की विघ्ननीति

इधर अंग्रेज सरकार अपनी सत्ता यावच्चन्द्रदिवाकरौ अक्षुण्ण रखने के लिए इन दोनों सम्प्रदायों को भेदनीति के प्रयोग द्वारा एक-दूसरे से अलग रखने का प्रयत्न कर रही थी और उधर दूसरी तरफ से हमारे नेता जिनके भेदभावों का परिहार का उन्हें राष्ट्रीयता के सूत्र में पिरोने के लिए दिन-रात खप रहे थे। जब हमारे नेता सरकार से कहते कि हमारा स्वराज्य हमें दे दो, तो सरकार जवाब देती, 'दें किसे ? दें कैसे ? पहले आपस में तो समझ लो।' जब आपस में समझौता करने बैठते और हिन्दू लोग मुसलमानों से कहते कि तुम अपनी संख्या के अनुपात के लिहाज से पचीस प्रतिशत ले सकते हो, उसकी जगह हम

तुम्हें तीस प्रतिशत देते हैं, तो सरकार फौरन तैंतीस या पैंतीस प्रतिशत का लालच दिखाती और इस तरह समझौते की सारी कोशिशों पर पानी फेर देती।

लोकमान्य की दूरदर्शी नीति

लोकमान्य जैसे दूरदर्शी और बहादुर नेता ने जब सरकार का यह अड़ंगेबाजी का रवैया देखा, तब उन्हें निश्चय हो गया कि समझौते की नीति से कार्य सिद्ध नहीं होगा। इसलिए उन्होंने पैंतरा बदल दिया और लखनऊ में कांग्रेस के मञ्च पर से सरकार को चुनौती दी । लोकमान्य के कथन का आशय इस प्रकार था : "सरकार कहती है कि भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न कौमें और जमातें आपस में लड़ती हैं, वे नहीं चाहतीं कि किसी को भी अधिक सत्ता दी जाय। इसलिए सरकार लाचार है। हम सरकार से कहते हैं, यह लो, हमारी तरफ से झगड़ा खतम है। तुम मुसलमानों को ही स्वराज्य के शत-प्रतिशत अधिकार दे दो। हम उनसे निपट लेंगे ।"

'कोरी हुंडी' की नीति

लोकमान्य की भाषा और नीति एक राजनीति निपुण धुरंधर देशभक्त और वीर पुरुष की थी। उनके बाद गांधीयुग शुरू हुआ। गांधीजी ने प्रेम और स्वार्थ-त्याग की नीति का श्रीगणेश किया। अविश्वास और भय का निराकरण विश्वास और प्रेम से ही हो सकता था। गांधीजी ने कहा कि 'हम मुसलमानों को मनाने के लिए उनसे सौदा नहीं करेंगे। लेन-देन की बातें नहीं करेंगे। अगर वे हमारा विश्वास नहीं कर सकते, तो हम सर्वस्व का उत्सर्ग कर देने को तैयार हैं। प्रेम और पुरुषार्थ युक्त विश्वास बाजार की नीति का अनुसरण नहीं करता। वह तो सिर्फ देना और सहना ही जानता है।' इसलिए उन्होंने मुसलमानों से कहा कि 'अगर तुम मेरा विश्वास नहीं कर सकते, तो मैं तुम्हारा विश्वास करूँगा। तुम मुझ को प्रेम नहीं कर सकते, तो मैं तुमको प्रेम करूँगा; मैं न प्रतिप्रेम की अपेक्षा रखूँगा, न परिदान की। मैं तुम्हारी

खुशामद नहीं करूँगा, क्योंकि खुशामद में दोनों का पतन है। मैं तुम्हारी निरपेक्ष सेवा करूँगा। मैं दुकानदारी की बात नहीं करता। यह देश जितना मेरा है, उतना ही तुम्हारा भी है। इसे साबित रखो, आजाद रखो, तुम्हीं उसका उपभोग करो। यह लो कोरा कागज। जो चाहो लिख लो, नीचे मेरे हस्ताक्षर हैं ही।'

अहिंसा-मूर्ति गांधी की लोकोत्तर विशेषता उनकी असाधारण वीरवृत्ति में है। यह एक दिलदार वीर-पुरुष की प्रेमनीति का परिपक्व, विकसित रोमहर्षक पहलू था। यह 'कोरी हुंडी की नीति' के नाम से प्रसिद्ध है। अल्पदृष्टि और अप्रबुद्ध राजनीतिज्ञों ने उसे अव्यवहार्य कह कर ठुकराया और अधिकार-विनियमवादी मुसलमानों ने हतबुद्ध होकर उससे मुँह मोड़ लिया।

कोई दो-तीन साल पहले उस जमाने की कांग्रेस के नीतिनिपुण नेता राजाजी ने फिर उसी हिम्मत और मुहब्बत की नीति का पुनरुच्चार किया। उस वक्त वह तिलक की दूरदर्शी राजनीति और गांधीजी की मानवनिष्ठ व्यवहारनीति का ही अनुसरण कर रहे थे।

गांधीजी और राजाजी में मूलभूत फर्क

यहाँ तक तो सब ठीक हुआ। एक ही बच्चे के लिए लड़नेवाली दो माताओं में से सच्ची और समझदार माता ने अपना हक छोड़ दिया और प्रेम-प्रेरित उदारता से कहा, 'लड़का दूसरी बहन को दे दीजिये। उसीकी गोद में खेलेगा।' लेकिन प्रेम और उदारता के खातिर भी कोई माँ यह तो नहीं कह सकती कि अगर वह दूसरी स्त्री बच्चे के दो टुकड़े ही करना चाहती है, तो करने दीजिये। यह उदारता नहीं, प्रेम नहीं; बल्कि निर्दयता और हैवानियत होगी। या राजाजी का ही दृष्टान्त ले लीजिये: एक भाई दूसरे भाई से यह भले ही कह दे कि यह गाय तू ही ले लो। चाहे यहाँ तक भी कह दे कि गाय की सेवा और सार-सम्हाल मैं करूँगा, मैं उसे सानी-पानी दूँगा, सारा का सारा दूध तू पी लेना। लेकिन अगर

दूसरा भाई गाय के दो टुकड़े करने पर ही अड़ बैठे, तो वह हरगिज राजी नहीं होगा। बल्कि इस तरह वह माता कहेगी कि बच्चे के दो टुकड़े करने से पहले मेरे शरीर की बोटी-बोटी कर लो, उसी तरह यह भाई भी कहेगा कि गाय को काटने के पहले इस जिस्म के टुकड़े टुकड़े कर डालो। यही गांधीजी ने कहा है—'समूचा भारतवर्ष ले लो, उसका उपभोग करो। लेकिन उसके टुकड़े हरगिज न करना। उसके पहले मेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालना।'

बलप्रयोग अप्रस्तुत क्यों ?

साम्प्रदायिक एकता के लिए भी भारत की अविभाज्य राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की बलि तो नहीं दी जा सकती। हाँ, कोई हमसे कहे कि हम और तुम बिलकुल अलग-अलग हैं, तुम हमारे कोई नहीं लगते, तो हम जबरदस्ती अपनी आत्मीयता और एकता उस पर लाद नहीं सकते। क्योंकि जबरदस्ती लादी हुई एक-राष्ट्रीयता का नाम ही साम्राज्यवाद है और जबरदस्ती लादे हुए संरक्षण का नाम ही गुलामी है। एकता कोई बाह्य वस्तु नहीं है, जो जबरदस्ती लादी जा सके या ठूँस-ठूँस कर भरी जा सके। वह तो हृदय की भावना है, जो प्रेम-मूलक निर्ब्याज सेवा से जाग्रत और विकसित होती है। मराठी के सुप्रसिद्ध लोकप्रिय नाटककार राम गणेश गड़करी ने अपने 'पुण्यप्रभाव' नामक नाटक में एक सिपाही का पात्र खींचा है। वह सिपाही अपनी प्रेयसी से कहता है, 'अगर तू मुझको प्रेम नहीं करेगी, तो तेरे राई बराबर डुकड़े कर डालूँगा।' इस तरह की मुठमर्दी से डर भले ही पैदा हो, प्रेम हरगिज नहीं पैदा हो सकता। प्रेम और एकता की भावना पैदा करने के लिए फौजी कानून बिलकुल बेकार है। इसलिए गांधीजी और कांग्रेस की कार्य-समिति ने कहा कि अगर कोई जुदा होने पर तुला ही हो, तो हम उस पर जबरदस्ती एकता नहीं लाद सकते। मार-मार कर किसी को हकीम भले ही बना लीजिये, लेकिन मार-मारकर उसमें हकीम का इल्म और सिफत नहीं भर सकते। गांधीजी और कांग्रेस ने तो केवल वस्तुकथन किया है। किसी तत्त्व का निरूपण या सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है। सिद्धान्त तो भारत की एकता—अक्षुण्ण

एकता, अविभाज्य एकता, अबाधित एकता और भारत की अपरिमित, अमिश्र और निरपेक्ष स्वतंत्रा ही है।

एक तर्कविरोधी प्रक्रिया

कोई जुदा होने का प्रण ही कर ले, तो उसे जबरदस्ती रोका नहीं जा सकता, यह कहना एक बात है और किसीको मनाने, खुश करने या थोड़ी देर के लिए उसका सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से उसकी जुदाई की माँग तत्त्वतः मंजूर कर लेना बिलकुल दूसरी बात है। इसमें तो मूल उद्देश्य पर ही कुठाराघात हो जाता है। जीनासाहब कहते हैं कि अब गांधी का भंडाफोड़ हो गया। अब वह अपने असल रूप में दुनिया के सामने आ गया है। क्यों—इसलिए कि वह जुदाई के द्वारा एकता की तर्कविरोधी, अव्यवहार्य और बन्धुद्रोही नीति का अनुसरण करने से इन्कार करता है । जुदाई में से एकता सिद्ध करने की यह प्रक्रिया अन्धकार के मन्थन में से प्रकाश का निर्माण करने की प्रक्रिया से कम अद्भुत और अभूतपूर्व नहीं है। जीनासाहब की यह अपूर्व देन है। राजाजी को उसकी अयुक्तता और असारता स्पष्ट दिखायी देती है। लेकिन फिर भी वह जुदाई के दावे को मंजूर करने का वादा करके एकता प्रस्थापित करना चाहते हैं।

सारांश यह कि परस्पर-विश्वास और निर्भयता की नीति का सूत्रपात करने के लिए हम 'कोरी हुंडी की नीति' का अनुसरण तहेदिल से और पूरे हृदय से भले ही करें, उसमें भारत की एक-राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के आदर्श में कोई बाधा नहीं पड़ती। लेकिन अगर कोई कहे कि एकता की शर्त जुदाई है, तो हम उसका स्वीकार कैसे कर सकते हैं ? अगर कोई कहे कि स्वतंत्रता की शर्त परतंत्रता है, आजादी की शर्त गुलामी है, तो क्या हम उसे साबित दिमाग का आदमी कहेंगे ? इसलिए विच्छेदवादियों के जवाब में बन्धुत्व की भूमिका पर से हम इतना ही कह सकते हैं कि हम जबरदस्ती नहीं कर सकते, लेकिन प्रेमबल का

प्रयोग तो कर सकते हैं ? मार-मारकर तुम्हारे होश दरुस्त नहीं कर सकते, लेकिन अपनी जान देकर तुम्हारी बंधुत्व-भावना को जाग्रत तो कर सकते हैं ?

ब्रिटिश सत्ता यहाँ भी बाधक

आज भारतीय राष्ट्र हताश और अगतिक हो रहा है। साम्प्रदायिक एकता के लिए भी वह अंग्रेजों का मुँह ताकने लगा है। उसे स्वतंत्रता की जिम्मेवारी का बोध नहीं होता। वह आजादी के साथ आनेवाले खतरों का सामना करने से घबड़ाता है। यह निपट नादानी देख कर गांधीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब तक ब्रिटिश सत्ता का अन्त नहीं होगा, तब तक इस मामले में भी हमें सम्यक् दृष्टि प्राप्त नहीं होगी। हम सारे प्रश्नों का उचित तारतम्य की दृष्टि से विचार नहीं कर सकेंगे। वह यह नहीं कहते कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के बिना भारत में यथार्थ जनतंत्रात्मक स्वराज्य स्थापित हो जायगा। 'हिन्दू-मुस्लिम एकता के बिना स्वराज्य नहीं' यह पुराना सूत्र तो कायम ही है। अब उसमें एक नया सूत्र जोड़ दिया है कि हिन्दू-मुसलमानों की अनबन से लाभ उठाकर अपना उल्लू सीधा करनेवाली सत्ता के रहते यथार्थ हिन्दू-मुस्लिम एकता दुशवार है। अन्तर सिद्धान्त का नहीं है, केवल प्रतिपादन के जोर का है। आज वह कहते हैं कि अराजकता की जोखिम उठाकर भी हमें विदेशी सत्ता का अन्त कर देना चाहिए, तभी स्वराज्य की स्थापना की कोई आशा हो सकती है।

२७-६-१९४२

८. शुद्धिकरण की पुकार

कल वर्धा-शहर में एक सार्वजनिक भाषण में आचार्य दादा कृपालानी ने एक बहुत ही अर्थपूर्ण बात कही। उन्होंने कहा, “रिश्वतखोर अगर एकगुना गुनहगार है, तो रिश्वत देनेवाला दुगुना गुनहगार है। क्योंकि रिश्वत देनेवाला रिश्वखोर का सगा बाप है, वह रिश्वखोर बनाता है। अब बतलाइये, चोर बड़ा अपराधी है या चोर को बनानेवाला अधिक अपराधी है?”

अपनी बात को अधिक हृदयग्राह्य बनाने के लिए कृपालानाजी ने यह भी कह डाला कि यदि आप मुझे भी टिकटबाबू बना दें और अगर मुझे रिश्वत देना शुरू कर दें तो मैं कब तक अपने-आप को रोक सकूँगा ? मैं भी रिश्वत लेने लगूँगा। जब मैं अपना भरोसा नहीं दिला सकता, तो दूसरों का भरोसा क्या दिलाऊँ ?”

कृपालानीजी के इस निवेदन में केवल शैली की रोचकता नहीं है, उसमें एक गम्भीर सिद्धांत निहित है। उसमें सर्वोदय की प्रक्रिया का बहुत उपयोगी संकेत है।

दशम-न्याय

संस्कृत में 'दशम-न्याय' नाम से एक न्याय प्रसिद्ध है, जिसका आशय नीचे लिखी आख्यायिका में सूचित किया गया है;

एक बार दस आदमी यात्रा करने निकले । रास्ते में एक बड़ी-सी नदी पड़ी । उसे तैरकर पार करना पड़ा। उस पार जाने पर यह राय हुई कि एक बार सब की गिनती कर ली जाय। कहीं ऐसा न हो कि कोई डूब गया हो। पहले ने गिनती की। कुल नौ आदमी निकले। तब तो सबके दिल में डर पैदा हुआ। हरएक ने गिनती की । और कई बार गिनती की। लेकिन नौ ही आदमी निकले । तब तो कुहराम मच गया । सब मिलकर रोने और सिर

धुनने लगे । कहने लगे—अब कौन-सा मुँह लेकर घर जायेंगे ? जो डूब गया है उसके घरवालों से क्या कहेंगे ? अनर्थ हो गया।

इस प्रकार सब मातम कर रहे थे कि इतने में वहाँ एक बटोही आ पहुँचा। पूछने लगा, बात क्या है ? सबने उसे सारा हाल सुनाया। पथिक बोला, मेरे सामने गिनो। हरएक ने फिर से गिना। लेकिन नौ ही आदमी निकले। राही ने देखा कि गिनते वक्त हरएक अपने को छोड़ देता था। यह गलती उस पथिक ने उनको बता दी और दस के दस आदमी गिना दिये।

हमारे देश की स्थिति

आज हमारे देश में हर आदमी इस दशम-न्याय के मर्ज का शिकार है। हरएक को शोक है कि देश में भ्रष्टाचार है। रिश्वतखोरी का बाजार गर्म है। शासन में शिथिलता है। सेवकों में भोग-लोलुपता और लम्पटता है। हम लोग जहाँ जाते हैं—गाँवों में, बाजार-हाटों में, रेल और बस-गाड़ियों में, सड़कों और गलियों में, सभाओं-सम्मेलनों में, परिषदों-संसदों में, अखबारों-पत्रकों में, हर मुँह से, हर मंच से, हर व्यासपीठ से, हर लेखनी से यही आवाज, यही शिकायत सुनते हैं। हरएक कहता है, हम गांधीजी की सिखावन भूल गये। हम उनके बतलाये हुए आचरण के आदर्श से गिर गये। हम भोग में और सत्ता के मोह में फँस गये हैं। वह कहता तो 'हम' है, लेकिन अपने दिल में कहते रहता है—'मुझे छोड़कर और सब ।' इतना वाक्यांश वह कोष्टक में लिख लेता है। लेकिन वह वाक्य इटैलिक्स में और बड़े टाइप में होता है।

सरकारी हाकिम, मुलाजिम, शासनाधिकारी और कर्मचारी भी जब अपनी अपनी फर्याद लेकर हमारे पास आते हैं, तो कहते हैं—'साहब ! क्या कहें, पक्षपात और अन्याय का बाजार गर्म है। न्याय की किसी को पर्वाह नहीं। सारा शासन चौपट हो रहा है।' मालूम

होता है, सारा वैभव रसातल को जा रहा है। मजा यह है कि हरएक यही बात कहता है। हरएक न्याय का कायल है। पक्षपात का विरोधी है। अन्याय का दुश्मन है। सारे देश में जब हरएक इतना न्यायप्रिय और सदाचारी हैं तो फिर कुल मिलाकर भ्रष्टाचार और अन्याय आया कहाँ से ?

मजा यह है कि हरएक अन्याय और अनाचार का आरोप करता है, लेकिन उनके निवारण की जिम्मेवारी अपनी नहीं, दूसरे की समझता है। अन्याय और अनाचार के आरोप में से भी अपने-आप को कोष्ठक में रख लेता है। यही दशम-न्याय है। आज इस देश की मुख्य बीमारी यही है । हरएक दूसरे के अपराधों के लिए शोक करता है। उसके लिए रुष्ट और सन्तप्त है, परन्तु अपने-आप को अलग समझता है।

सर्वोदय की प्रक्रिया

यह वृत्ति सर्वोदय की प्रक्रिया के अनुरूप नहीं है। सर्वोदय की प्रक्रिया का मध्यबिन्दु हृदय-परिवर्तन है। हृदय-परिवर्तन का आरम्भ अपने से होता है। दूसरों का हृदय-परिवर्तन मेरे अपने हृदय-परिवर्तन का प्रतिफल है। सामुदायिक-संगठित प्रयत्न का महत्त्व अवश्य है, लेकिन आज हम देख रहे हैं कि सामुदायिक-संगठित प्रयत्न हो नहीं पा रहा है। दोष किसका है ? हमारा, आपका, सबका । उसका निराकरण कैसे होगा ? हमारे, आपके, सबके व्यक्तिगत और सम्मिलित प्रयास से। इसका आरम्भ कैसे होगा ? व्यक्तिगत हृदय-परिवर्तन से। अर्थात् स्वयं अपने हृदय-परिवर्तन से। बापू के शब्दों में, आत्म-शुद्धि से। भूमि-शुद्धि, जल-शुद्धि, वस्तु-शुद्धि, वातावरण-शुद्धि आदि सभी तरह के शुद्धिकरण की आवश्यकता ब्रह्मकर्म के लिए यानी किसी भी महान् और पवित्र उपक्रम के लिए होती है। लेकिन इस सारे शुद्धिकरण का आरम्भ-स्थान आत्म-शुद्धि है। जो आत्म-शुद्धि को छोड़कर परशुद्धि के चक्कर में पड़ता है, वह आत्मशुद्धि से तो वंचित हो ही जाता है और इसीलिए

दूसरों के शुद्धिकरण का अधिकारी नहीं रह जाता। जिसने अपने-आप को गिनना छोड़ दिया, उसके होश ही गुल हो जाते हैं, वह अपनी आत्मा को ही खो देता है। 'दशम-न्याय' में यह एक नितान्त उपकारी संकेत है।

बजाजवाड़ी, वर्धा ७-११-१९४९

३. सत्याग्रह

१. **एक स्वाभाविक शंका**

२. **शुद्ध सत्याग्रह का परिणाम**

३. **अहिंसा आग्रह रहित सत्याग्रह**

४. **सत्याग्रह बनाम निःशस्त्र प्रतिकार**

५. **जुर्माना अदा करने की नीति**

६. **जकातदारजी का उदाहरण**

७. **सत्याग्रहियों पर इलजाम**

८. **सेवाक्षेत्र या निर्वाचन क्षेत्र**

९. **सत्याग्रह का विधायक स्वरूप**

१. एक स्वाभाविक शंका

गांधीजी इधर सत्याग्रह की शर्तों पर बहुत जोर दे रहे हैं, यह देखकर कुछ लोगों को बड़ी झुँझलाहट होती है। वे कहते हैं कि "सन १९३० और १९३२ में जो सत्याग्रह हुए, उस वक्त गांधीजी ने इन शर्तों के पालन के विषय में इतनी कड़ाई नहीं की, इसीलिए सामुदायिक सत्याग्रह मुमकिन हुआ। अब जिस तरीके से गांधीजी काम ले रहे हैं, उससे यह आन्दोलन जनताव्यापी होने की कोई आशा नहीं, और तो और, जिस कांग्रेस ने बम्बई में भाषण-स्वातंत्र्य की माँग का प्रस्ताव किया, उसके अध्यक्ष और कार्य-समिति के सदस्यों तक को सत्याग्रह करने की अनुमति नहीं दी गयी। गांधीजी के तरीके कुछ समझ में नहीं आते।"

लाचारी की अहिंसा

आज तक जो आंदोलन हुए, वे अहिंसात्मक कहलाये तो गये, मगर दरअसल वे 'अहिंसात्मक' नहीं थे। बल्कि 'निःशस्त्र' थे। इसलिए गांधीजी कहा करते हैं कि उन आन्दोलनों में हमने जिस अहिंसा का प्रयोग किया, वह वीरों की तेजस्वी और स्वेच्छा से स्वीकृत अहिंसा नहीं थी, वरन् निहत्थे की व्यावहारिक और लाचारी की अहिंसा थी । दूसरे शब्दों में वह 'सत्याग्रह' नहीं था, 'निःशस्त्र प्रतिकार' का ही एक संस्करण था।

निःशस्त्र-प्रतिकार

अब, निःशस्त्र प्रतिकार असहायों और अनन्यगतिक निहत्थों का अस्त्र होने के कारण उसकी सामर्थ्य और प्रभाव नपा-तुला है। निःशस्त्र प्रतिकार के प्रयोग में एक ऐसा मुकाम आ जाता है, जब उसकी गति कुंठित हो जाती है, उसकी शक्ति अपनी सीमा तक पहुँचकर ठिठक जाती है। तब या तो सशस्त्र प्रतिकार में उसका विसर्जन हो जाता है, या वह अहिंसक प्रतिकार के अधिक उज्वल, तेजस्वी और प्रभावशाली अस्त्र में परिणत हो जाता है।

हिन्दुस्तान में निःशस्त्र प्रतिकार का प्रयोग अब लगभग इस मंजिल तक पहुँच गया है, या पहुँचना चाहता है। इसीलिए कार्य-समिति में और गांधीजी में मतभेद हो गया। गांधीजी की निरपेक्ष, निरपवाद और नित्य अहिंसा का स्वीकार करने में कार्य-समिति ने अपने-आप को असमर्थ पाया। लेकिन वह प्रसंग निकल जाने के बाद फिर कोई दूसरा चारा ही नहीं रहा। तब गांधीजी को फिर सारे सूत्र सौंप दिये गये।

नि:शस्त्र प्रतिकार के सभी आन्दोलनों का इतिहास ऐसा ही है। ब्रिटिश पार्लियामेंट के शिक्षा संबंधी कानून के विरोधियों ने भी हिंसा को कभी वर्ज्य नहीं माना और मताधिकारवादी ब्रिटिश स्त्रियों ने तो एक हद तक शांतिमय आंदोलन करने के बाद सम्पत्ति का नाश करना और मारना-पीटना भी शुरू कर दिया था। यह स्वाभाविक और क्रम-प्राप्त भी था। क्योंकि निःशस्त्र प्रतिकारियों की असली श्रद्धा तो शस्त्रों में ही होती है। उनकी दृष्टि से वही सर्वश्रेष्ठ साधन है, परन्तु उसके अभाव में, विवश हो कर, उन्हें निःशस्त्र प्रतिकार की नीति अखितार करनी पड़ती है।

अहिंसक नीति का रूप

गांधीजी शुद्ध अहिंसा के उपासक और अनुष्ठाता हैं । परन्तु वे केवल आदर्शवादी नहीं हैं, एक व्यवहारनिष्ठ, आदर्शपरायण नेता भी हैं। उन्होंने यह देख लिया कि भारत में निःशस्त्र-प्रतिकार का रूपांतर सशस्त्र प्रतिकार में होना असम्भव, अवांछनीय और अनावश्यक भी है। कार्य-समिति भी यह हमेशा कहती आयी है कि भारत अपनी स्वाधीनता सशस्त्र आन्दोलन से नहीं प्राप्त कर सकता। अत: उसके लिए तो एक ही रास्ता रह जाता है। वह यह कि हम अपने निःशस्त्र प्रतिकार का विकास अहिंसात्मक प्रतिकार में करें।

अहिंसात्मक प्रतिकार के सबसे बड़े विशेषज्ञ और माहिर गांधीजी ही हैं, क्योंकि वे ही उसके प्रणेता और प्रवर्तक हैं। परन्तु उनका अपना एक खास तरीका और विशेष हथौटी है।

निःशस्त्र प्रतिकार का अंतिम आधार शस्त्रबल ही है । परन्तु अहिंसक प्रतिकार का अंतिम आधार आत्मबल है। आत्मबल में आकार और मिकदार की अपेक्षा उत्कंठता का, संख्या की बनिस्बत गुण का, लम्बाई-चौड़ाई की अपेक्षा गहराई का और आवेश की अपेक्षा गम्भीरता का महत्त्व अधिक है। इसलिए गांधीजी ने ऐसा कदम उठाया है, जिसमें परिमाण या मात्रा की अपेक्षा शुद्धता और वैज्ञानिकता पर अधिक ध्यान दिया गया है।

गांधीजी की यह प्रतिज्ञा है कि वे अपना आवश्यक कर्तव्य करने में सरकार को हैरान नहीं करेंगे। इसलिए वे स्वयं पहले सत्याग्रही नहीं हुए और अन्य प्रसिद्ध नेताओं को भी नहीं होने दिया।

शुद्ध सत्याग्रह

परन्तु उन्हें सत्याग्रह का उसके शुद्ध रूप में प्रयोग करना है। इसलिए उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति को चुना जिसने रचनात्मक कार्य को आत्म-शक्ति का आचार-धर्म मानकर उसका आचरण किया है और सेवा को ही जनता से तादात्म्य का—केवल सम्पर्क का नहीं—बिन्दु मान कर रचनात्मक कार्य को उसका प्रत्यक्ष साधन माना है। जो केवल गांधीजी की शर्तें पूरी करने के लिए कातते हैं या खादी पहनते हैं, उनमें गांधीजी के अभीष्ट अहिंसात्मक गुणों का विकास नहीं हो सकता। यांत्रिक अनुशासन से स्वभाव या वृत्ति नहीं बनती।

अहिंसक प्रतिकार में निर्वैरता होती है। उसका लक्ष्य ही संसार से 'वैर' और 'युद्ध' का अंत कर देना है। सशस्त्र 'धर्मयुद्ध' में भी वैर का निषेध है, जिस मात्रा में युद्ध में वैर या

हिंसा कम होती है, उसी मात्रा में उसमें 'धर्मिकता' प्रविष्ट होती है। सशस्त्र 'धर्मयुद्ध' में भी जयापजय की अपेक्षा युद्ध के नियमों और मर्यादाओं के पालन का महत्त्व अधिक होता है । विजय या शरीर और सम्पत्ति की रक्षा के लिए युद्ध के नियमों का भंग करना अनार्यता का लक्षण माना जाता है। मतलब यह कि सशस्त्र धर्मयुद्ध में भी झूठ और दगाबाजी को स्थान नहीं है। जहाँ सत्य का आग्रह हो, वहाँ अहिंसा अनिवार्य रूप से आ ही जाती है।

जब सशस्त्र धर्म-युद्ध की मर्यादा है, तो अहिंसक प्रतिकार में परिणति-परायणता की गुंजाइश कैसे हो सकती है ? शुद्ध सत्याग्रह का परिणाम हृदय-परिवर्तन से नापा जाता है। उसका गज ही दूसरा होता है।

इस दृष्टि से गांधीजी की वर्तमान नीति का विचार किया जाय, तो कई गुत्थियाँ सुलझ जायेंगी।

२२-१०-१९४०

२. शुद्ध सत्याग्रह का परिणाम

कांग्रेस के कुछ निष्ठावान् कार्यकर्ता, जिनका गांधीजी के नेतृत्व में विश्वास है, अक्सर यह पूछा करते हैं कि 'इतने मर्यादित और सौम्य सत्याग्रह का क्या असर होगा ? जब तक जन-आन्दोलन नहीं होगा, तब तक युद्धविरोधी आन्दोलन का न तो जनता पर कोई असर होगा, न सरकार पर।'

इस प्रश्न का जवाब देने के अधिकारी तो गांधीजी ही हैं। उनकी सारी योजनाओं की जो पूर्व-पीठिका होती है, उसका पूरा-पूरा अर्थ उनके सिवा और कोई नहीं समझ सकता। इसलिए यहाँ उन्हींके लेखों और वक्तव्यों के आधार पर जवाब देने की कोशिश की जाती है।

पिछले सत्याग्रहों में ज्यादा-से-ज्यादा लोगों ने शामिल हो कर जेल भरना शुरू कर दिया था। जब सारे देश में हजारों आदमी जेलों में जाने लगे, तब सरकार भी काफी हैरान हुई। उस पर काफी दबाव पड़ा। इसमें शक नहीं कि वह बलात्कार भी निहत्थों का था।

अब गांधीजी एक कदम आगे बढ़ना चाहते हैं। पिछले सत्याग्रहों में हमने गुप्तता, असत्य और विपक्ष के लोगों को निष्ठा-भ्रष्ट करने की नीति भी निषिद्ध नहीं मानी। हालाँकि गांधीजी इन सब बातों के खिलाफ थे, तो भी जन-आन्दोलन के दौरान में हलके-हलके वे दाखिल होती गयीं। सरकार पर हमारी चतुराई, सिफत और संगठन का प्रभाव भले ही पड़ा हो, पर हम अपने चारित्र्य और सौजन्य का सिक्का नहीं जमा सके । इसीलिए विपक्षी कुछ दब-सा गया, मगर उसका हृदय-परिवर्तन नहीं हो सका। इसके विपरीत, उसके दिल में कुछ कटुता और अविश्वास पैदा हो गया।

इसलिए अब गांधीजी ऐसी नीति बरतना चाहते हैं, जिसकी बदौलत विपक्षी पर हमारी संख्या, संगठन और नाकों दम करने की ताकत के बजाय सत्याग्रही व्यक्तियों के

शील, तत्त्वनिष्ठा, निर्वैर-वृत्ति और अविचलित सत्प्रवृत्ति की गहरी छाप पड़े और वे अपने चारित्र्य-बल से अपने विपक्षी को प्रभावान्वित कर सकें। उसके दिल में यह विचार पैदा हो कि मैं जिन्हें दंड दे रहा हूँ, वे उच्च कोटि के ध्येयवादी और सदाचार-सम्पन्न व्यक्ति हैं। यह हृदय-परिवर्तन की पहली सीढ़ी है। अत: अब की बार गांधीजी का मापदंड कुछ निराला ही है।

२४-१०-१९४०

३. अहिंसा-आग्रह-रहित सत्याग्रह

एक मित्र जो इस समय देशव्यापी जन-आन्दोलन देखने के लिए चंचल हो उठे हैं, गांधीजी के तरीके से असन्तुष्ट हैं। महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध और क्रान्तिकारी व्यक्ति के शब्दों में वे गांधीजी के इस सत्याग्रह को 'सबल सत्याग्रह' कहते हैं; क्योंकि गांधीजी सत्य के साथ-साथ अहिंसा का भी आग्रह रखते हैं, केवल सत्य का ही आग्रह नहीं रखते। उनके मत से 'सत्याग्रह' में 'सत्य' के सिवा किसी दीगर तत्त्व का आग्रह हो ही नहीं सकता। इसलिए वे मुझसे पूछते हैं कि "अगर सत्य के लिए अपनी जान देना उचित है, तो दूसरे की जान लेना भी उचित क्यों नहीं होना चाहिए ?" यह उनका तर्क है।

यह तर्क है तो आपात-रमणीय, परन्तु सदोष है। इसमें बौद्धिक अहंकार, असहिष्णुता और यथार्थनिष्ठा का अभाव भी है। मेरी बुद्धि को जो सत्य प्रतीत होता हो, वह मेरे लिए संदेहातीत है। इसलिए मैं खुद उस पर अमल करूँ और बुद्धिवाद तथा नैष्ठिक आचरण से उसे दूसरों के गले उतारने की कोशिश करूँ, तो उसमें निष्ठा और नम्रता है। परन्तु मुझे जो सत्य प्रतीत होता है, उसे मानने के लिए मैं दूसरों को मजबूर करूँ, यानी उन पर बल-प्रयोग करूँ या उनकी जान लेने पर उतारू हो जाऊँ, तो मैं सत्य का अपमान करता हूँ। और अपनी निष्ठा को तिलांजलि देता हूँ; क्योंकि तब तो मैं सत्य को स्वयंप्रकाशी और स्वयंप्रभावी नहीं मानता। उस अवस्था में सत्य स्वयं-प्रतिष्ठित भी नहीं रह जाता। जो सत्य संसार के दूसरे सभी तत्त्वों की अन्तिम प्रतिष्ठा और अन्तिम शक्ति है, वही अपनी रक्षा के लिए परावलम्बी हो जाता है, अर्थात् परप्रतिष्ठित और पराश्रित हो जाता है। तब तो 'बाहुबल' ही अन्तिम शक्ति हो जाती है और संसार की अंतिम प्रतिष्ठा तलवार ही हो जाती है, न कि सत्य। यही तो 'सैनिक सत्तावाद' या 'लश्करशाही' है, जिसे हम नष्ट करना चाहते हैं। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' का भी वास्तविक अर्थ यही है कि यदि हम धर्म पर दृढ़ रहेंगें; उसके पालन में सर्वस्व का बलिदान करने को तैयार रहेंगे, तो वह हमारी रक्षा करेगा। परन्तु उस वाक्य

का यह गलत अर्थ किया जाता है कि धर्म का यदि तलवार से रक्षण करोगे, तो वह तुम्हारी रक्षा करेगा।

इसलिए अगर कोई अत्याचारी व्यक्ति सत्याग्रही के सत्याचरण में बाधा डालना चाहे, तो सत्याग्रही उसका प्रतिकार अहिंसक उपायों से ही करता है और अपनी सत्यनिष्ठा प्रकट करता है।

अन्यायरूपी असत्य का निवारण

सामाजिक क्षेत्र में असत्य प्राय: अन्याय का रूप लेता है। जब एक व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए दूसरे व्यक्ति के अधिकार का अतिक्रमण करता है,तब वह अन्याय या अत्याचार करता है । अर्थात् मनुष्यों के परस्पर-व्यवहार में 'बन्धुद्रोह' यानी 'हिंसा' ही अन्याय का मूल है। वही असत्य है।

बन्धुद्रोही या हिंसक व्यक्ति का प्रतिकार करने के लिए अगर दूसरा व्यक्ति भी हिंसात्मक उपाय काम में लावे, तो हिंसा का कभी अन्त ही नहीं होगा। गणित में दो 'ऋणों' का गुणाकार एक 'धन' भले ही होता हो, परंतु यहाँ वैसा नहीं होगा। यहाँ तो आत्मरक्षा या सत्यनिष्ठा की रक्षा के लिए आक्रमणकारी की अपेक्षा अधिक उग्र और जबरदस्त हिंसा का प्रयोग करना होगा और इस तरह हिंसा की ही प्रतिष्ठा कायम करनी होगी। उस हालत में जो अधिक हिंसा-कुशल होगा, उसी की विजय होगी। न्यायान्याय या सत्यासत्य का तत्त्व धरा रह जायेगा। अर्थात् जिस दोष का हम निवारण करना चाहते थे, उसीकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में हमें अपने-आप को कृतकार्य मानना होगा। इसलिए असत्य या अन्याय के निवारण का वास्तविक और परिणामकारी उपाय अहिंसा ही है और अहिंसात्मक सत्याग्रह ही विशुद्ध और यथार्थ सत्याग्रह है।

२२-१०- १९४०

४. सत्याग्रह बनाम निःशस्त्र प्रतिकार

१. सत्याग्रह

काकासाहब ने 'सत्याग्रह बनाम निःशस्त्र प्रतिकार' शीर्षक लेख में जो विवेचन किया है उसका सारांश—(१) सत्याग्रह का उद्देश्य वैर भजाना नहीं हो सकता। हम उसमें प्रतिपक्षी की हानि या उसका अधःपात नहीं चाहते। बल्कि उसे भी बुराई और अधःपात से बचाना चाहते हैं। (२) झूठ, दगाबाजी, षड्यन्त्र, घात आदि के लिए सत्याग्रह में कोई गुंजाइश नहीं है; क्योंकि उसके मूल में विजयाकांक्षा नहीं है। केवल सेवा-वृत्ति है। किसीको हराकर नीचा दिखाने में सत्याग्रही की अपनी आत्म-मर्यादा को चोट पहुँचती है। (३) अपनी बहादुरी बतलाने के लिए, धाक जमाने के लिए, या लोगों की प्रशंशा प्राप्त करने के लिए, सत्याग्रही प्रतिकार के मौके नहीं खोजता। वह कोई होड़ का घोड़ा (रेसहार्स) अथवा कुस्ती का कौशल दिखाने के लिए या इनाम के लिए जोड़ खोजनेवाला पहलवान नहीं है। (४) अपनी लड़ाई की वृत्ति और औजारों को धार लगाने के मौके वह नहीं ढूँढता। उसे लड़ाई की अपेक्षा अमन और मेल अधिक पसन्द है। वह संग्राम या विजय का कायल नहीं है, बल्कि भाईचारे और सेवा का। (५) वह दूसरों पर अपना प्रभुत्व कायम करना पाप समझता है। न किसीको गुलाम बनाना चाहता है, न किसीकी प्रतिष्ठा कम करना चाहता है। वह अपना प्रभाव नहीं बढ़ाना चाहता, सत्य और प्रेम की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहता है। उसे न पराक्रम की मुराद है, न कीर्ति की चाह और न यश की लालसा। सेवा का आनन्द ही उसके लिए पर्याप्त है।

२. निःशस्त्र प्रतिकार

(१) सशस्त्र प्रतिकार में जो दिलेरी है वह भी यहाँ नहीं है, क्योंकि हम अपनी कमजोरी के कारण इसका अवलम्बन करते हैं। कमजोरी पराक्रम की शक्ति घटाती है, युद्ध-पाटव

कम करती है और द्वेषाग्नि तथा हीनता के भाव भड़काती है। (२) बिना शस्त्र के हम प्रतिपक्षी को जितना हतवीर्य कर सकें, उस पर जबरदस्ती करके उसे दबा सकें, जितना डरा सकें, जितना धोखा दे सकें, जितना जर्जर कर सकें, जितना अपमानित कर सकें, उसे जितना नुकसान पहुँचा सकें उतना पहुँचाने में कुछ भी नहीं उठा रखेंगे। (३) यहाँ आत्मबल से कोई सरोकार नहीं है। हमें तो किसी न किसी तरह बदला लेना है। बिना हथियार के बल-प्रयोग करना है। यदि हम अपने प्रतिपक्षी का शारीरिक वध नहीं कर सकते तो साम्पत्तिक, नैतिक और तेजोबध अवश्य करेंगे। (४) निःशस्त्र प्रतिकार में साजिश, गुप्त आघात, आकस्मिक आक्रमण आदि के लिए गुंजाइश है। सशस्त्र धर्मयुद्ध के नियम भी उसे लागू नहीं हैं, क्योंकि वह दुर्बलों की युद्ध-विधि है।

३. सारांश

सत्याग्रह यदि युद्ध के लिए एक मनुष्योचित, सुसंस्कृत, श्रेयस्कर और वीरतापूर्ण पर्याय है तो निःशस्त्र प्रतिकार उसकी एक बेढंगी, असफल और निःसत्त्व नकल है।

२३-२-१९३९

५. जुर्माना अदा करने की नीति

गांधीजी ने सत्याग्रहियों को जब यह आदेश दिया कि वे बिना विरोध जुर्माना दे दें, तो उनके कुछ अनुयायियों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। और दरअसल यह हिदायत कुछ अजीब-सी है। लेकिन गांधीजी का दिमाग इसी तरह काम करता है, वे एक कुशल सेनानी हैं जो अपने सैनिकों की हर कमजोरी को फौरन पकड़ लेते हैं और उसे दूर करने के लिए उपाय करने लगते हैं।

हमारा मर्मस्थल

किसी समय धनवान और खुशहाल लोग कैद से डरते थे और कैद की सजा टालने के लिए हजारों रुपये उड़ा देते थे। उस वक्त जेल की सजा का डर हमारी कमजोरी की जड़ था और सरकार की प्रतिष्ठा की बुनियाद था। कानून की प्रतिष्ठा जब तक सजा पर मुनहसर रहेगी तब तक यह परिस्थिति किसी हालत में नहीं बदल सकती कि जनता का दण्ड-भय ही सरकार की शक्ति का आधार हो।

जमाने ने पलटा खाया । कारावास का भय कुछ नागरिकों के दिल से बिलकुल निकल गया। धीरे-धीरे जेल जाना एक प्रतिष्ठित रिवाज और लोकप्रियता का साधन हो गया। मगर अब लोगों को शरीर से सम्पत्ति ज्यादा प्रिय होने लगी और शरीर-दण्ड की अपेक्षा द्रव्य-दण्ड का भय प्रबल हो उठा। इसका कारण केवल दरिद्रता और आर्थिक कष्ट नहीं है, अपितु लोभवृत्ति भी है। इसलिए लोग शौक से जेल जाने लगे, मगर जुर्माने से घबराने लगे। इसका दूसरा भी एक कारण है। जेल जाने से प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ती है। मगर जुर्मानि की सजा बिलकुल बेलज्जत है । सजा की सजा होती है, शरीर-दण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक तंगी और परेशानी होती है; लेकिन उसके बदले न इज्जत बढ़ती है, न जन-

प्रियता। इसलिए लोग जुर्माना देना येनकेन प्रकारेण टालने लगे और बहानेबाजी और चालबाजी से भी काम लेने लगे।

सरकार ने हमारे इस मर्मस्थल को अचूक देख लिया और उसी पर प्रहार करना शुरू कर दिया। वह समझ गयी कि लोक-पक्ष के शरीर में यही 'दुर्योधन की जंघा' है। बात तो पते की है। गांधीजी के भी फौरन ध्यान में आ गयी। वे तो अपने सैनिकों की कमजोरी दूर करने में कभी देर नहीं करते। फौरन आदेश दिया कि राजी-खुशी से जुर्माना देना शुरू कर दो।

एक पंथ दो काज

उस नीति से एक पंथ दो काज सिद्ध होते हैं, सबसे पहला और सबसे महत्त्व का लाभ यह है कि सम्पत्ति का मोह और द्रव्य-दण्ड का डर काफूर हो जाते हैं, हमारे पक्ष की जबरदस्त कमजोरी हट जाती है। यह सिद्ध हो जाता है कि हम अगर जांनिसारी के लिए तैयार हैं, तो अपने माल-असबाब और जायदाद को भी न्योछावर करने में आगा-पीछा नहीं करनेवाले हैं।

दूसरा फायदा यह होता है कि सरकार का प्रहार बिलकुल बेतासीर हो जाता है, जेल में जाना एक तरह से स्वेच्छा से गुलामी कबूल करना है। लेकिन जो गुलामी अपनी इच्छा पर निर्भर होती है, वह गुलामी ही नहीं होती । क्योंकि गुलाम रहना-न-रहना हमारी खुशी पर है। इसलिए अपनी प्रवृत्ति से जेल की सजा भुगतना आजाद होने का एक कारगर उपाय है। इसीलिए जब लोग खुशी-खुशी जेल जाने लगते हैं, तो सरकार उन्हें बन्द करने में कोई फायदा नहीं देखती। वह जानती है कि इनको जेल भेजना तो इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाना है।

यही बात जुर्माने के साथ हो जानी चाहिए। जब लोग खुशी-खुशी जुर्माना अदा करने लगेंगे और जुर्माने की सजा जान-बूझकर ओढ़ने लगेंगे तो सरकार को जुर्माना करने में

कोई लुत्फ नहीं आयेगा। इस तरह उसे कुछ पैस जरूर मिलेगा, लेकिन उससे कहीं ज्यादा उसकी बदनामी होगी। सारा संसार कहेगा कि इन्होंने तो हिन्दुस्तान को चूसने का और पैसे ऐंठने का एक नया तरीका अखितियार किया है।

इस दृष्टि से विचार करने पर बिला उज्र जुर्माना नहीं है। जब हमारा इतना बड़ा देश ही सरकार के हाथों में है, तो हम अपनी स्थावर-जंगम सम्पत्ति की सार-सम्भाल पर इतना बल क्यों दें ? हमें तो अपनी कमजोरी दूर करने से मतलब है।

एक बात और । यह तो मानी हुई बात है कि मनुष्य को शारीरिक कष्ट सहने की अपेक्षा पैसा देना अधिक अखरता है। इसलिए जो लोग अपने धन-दौलत की कुरबानी के लिए तैयार हो जाते हैं, उनकी हमें विशेष इज्जत करनी चाहिए। केवल जुर्माना की सजा देकर सरकार जनता को परास्त करना चाहती है। इस हरकत का यही माकूल जवाब हो सकता है।

द्रव्य-यज्ञ की आवश्यकता

जुर्माना देने की नीति के सिलसिले में गांधीजी ने यह भी कहा है कि आगे चल कर जब समय आयेगा, तो इस जुर्माने की पाई-पाई लौटा ली जायगी । गांधीजी का यह आश्वासन उनके अदम्य आत्म-विश्वास और न्यायनिष्ठा का परिचायक है। लेकिन हमारी दृष्टि में अगर जुर्माने को धरोहर का रूप मिल जाता है, तो सारा मजा ही किरकिरा हो जाता है। हमारी सत्यनिष्ठा और त्याग-वृत्ति पर धब्बा लग जाता है। हम अपने दिल के किसी कोने में यह भावना पोस कर मैदान में उतरेंगे, तो हमारी अवश्य हार होगी। हमारी ताकत भावनाओं की सचाई और उत्कटता में है। जहाँ त्याग नहीं है, वहाँ न 'श्री' होती है, न 'विजय' और न 'भूति'। हमारी तो यहीं वृत्ति होनी चाहिए कि हमें अपने घर-बार और मिलकियत को होम देना है। परिवर्तन में अगर परमात्मा दुगुनी-चौगुनी सम्पत्ति भी दे दे, तो उसे भी जनता-

जनार्दन के चरणों में उत्सर्ग करना है। यह द्रव्य-यज्ञ ही हमारा इस समय का सबसे बड़ा तप है।

न पकड़ने की नीति

इधर सरकार ने न पकड़ने की नीति बरतना शुरू किया है। इससे सरकार दो उद्देश्य पूर्ण करना चाहती है। एक तो यह कि सत्याग्रहियों की प्रतिष्ठा नष्ट हो और दूसरी उनका उत्साह मन्द पड़ जाय।

जब लोग यह देखते हैं कि सरकार तो पकड़ती ही नहीं, तो उनकी कुछ ऐसी धारणा होने लगती है कि अब इस सत्याग्रह में कोई दम नहीं रहा। 'जब सरकार पकड़ती ही नहीं, तब सत्याग्रह करने में कौन-सी बहादुरी है ? एक फिजूल की जिद है।'

सत्याग्रही सोचने लगता है कि "'हे राम, अब कब तक मारा-मारा फिरता रहूँगा ?" उसकी तबीयत ऊबने लगती है। प्रतिपक्षी को हाथ पर हाथ रख कर बैठा हुआ देख उसका सारा जोश गायब हो जाता है।

जब तक कोई आन्दोलन प्रतिपक्षी की चाल पर आधार रखता है, तब तक उसका नेतृत्व प्रतिपक्षी के हाथों में होता है। हमें तो यह नहीं भूलना चाहिए कि जो इस आन्दोलन में शरीक हुए हैं वे सजा और जुर्माना दोनों भुगतने को तैयार होकर ही मैदान में आये हैं । जिनको हमारा प्रतिपक्षी उपेक्षा, अवहेलना या उपहास से परास्त या संत्रस्त करना चाहता है, उनकी हमें विशेष कद्र और प्रतिष्ठा करनी चाहिए। ∽

२८-१-१९४१

६. जकातदारजी का उदाहरण

नागपुर प्रांत के एक पुराने सार्वजनिक कार्यकर्ता श्री जकातदारजी का उदाहरण वर्तमान सत्याग्रह आन्दोलन में विशेष महत्त्व रखता है। श्री जकातदारजी से हमारा कोई प्रत्यक्ष या व्यक्तिगत परिचय नहीं है। हमने उन्हें सिर्फ एक-दो बार देखा है। उनकी बुद्धिमत्ता और कार्यकुशलता की तारीफ काफी सुनी थी। मगर उनके विषय में जितना कुछ सुना था, उस पर से तो हमारी ऐसी धारणा कभी नहीं हुई थी कि श्री जकातदारजी में वीरता भी है।

पहले तो हम उन्हें केवल सरकार के पिट्ठू समझते थे। और इधर उनके कांग्रेस-दल में आने के बाद अवसरवादी राजनीतिज्ञ मानने लगे थे। उसी समय कांग्रेस-पक्ष में आये हुए कुछ पक्ष-रहित और पक्ष-परिवर्तन-पटु व्यक्तियों का रवैया देखने पर हमारी यह राय पक्की होने लगी थी।

परन्तु सत्याग्रह-आन्दोलन छिड़ते ही जब हमने वृद्ध जकातदारजी का वह पत्र पढ़ा, जो उन्होंने राष्ट्रपति आजाद को लिखा था, तब हमें सानन्द आश्चर्य हुआ। उसके जवाब में मौलानासाहब ने जो उदात्त वक्तव्य प्रकाशित किया, उसने तो जकातदारजी को हमारी निगाहों में और भी ऊँचा उठा दिया।

उसके बाद सत्याग्रह के अपराध के लिए सरकार ने जकातदारजी पर जुर्माना करना शुरू किया और जकातदारजी ने जुर्माना दाखिल करना शुरू किया। बड़ी मीठी स्पर्धा थी। मजिस्ट्रेट ने पहली बार पाँच सौ, दुबारा फिर पाँच सौ, तीसरी बार एक हजार और चौथी बार फिर एक हजार जुर्माना किया। गांधीजी की आज्ञानुसार जकातदारजी ने बगैर आनाकानी या हीलाहवाली किये जुर्माना अदा करना शुरू कर दिया और सत्याग्रह जारी रखा । आखिर सरकार को ही झुकना पड़ा।

यह घटना हमारे लिए विशेष रूप से शिक्षाप्रद है । यह फिर एक बार सिद्ध करती है कि संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो पूरा-पूरा निर्लज्ज या निष्ठुर हो । हमारी सज्जनता और सहृदयता में जितनी शक्ति हो, उनती ही हमें सफलता मिलती है।

जुर्माना देने की नीति

गांधीजी की जुर्माना अदा कर देने की नीति की जो व्याख्या हमने फरवरी के 'सर्वोदय' में की थी, उसका भी अनपेक्षित रूप से समर्थन इस उदाहरण से होता है । हिन्दी के एक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित सुविज्ञ पत्र ने हमारी व्याख्या की बड़ी सुन्दर और मार्मिक आलोचना की थी । किसी भी प्रश्न को लेकर विवाद करना 'सर्वोदय' की नीति नहीं है। और हमारा तो वह अधिकार भी नहीं है, इसलिए हमने उस आलोचना का जो ग्राह्यांश था; उसे ग्रहण कर लिया और शेष कृष्णार्पण कर दिया ।

परन्तु जकातदारजी-प्रकरण के बाद हम इस विषय की थोड़ी-सी मीमांसा फिर कर देना चाहते हैं । इंतना कह देना आवश्यक है कि हमारा उद्देश्य आलोचना का प्रतिवाद करना नहीं है। कुछ प्रचलित शंकाओं और आक्षेपों का विचार अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार करने की इच्छा है।

नेता पर विश्वास

हमसे कहा जाता है कि गांधीजी के उपजाऊ दिमाग में से कोई नयी बात निकलते ही हम उसमें तरह-तरह की विशेषताएँ खोजने लगते हैं और उसका समर्थन करने कि लिए जाने कहाँ-कहाँ की अजीब दलीलें पेश करते हैं।

बात सही है। और उसे स्वीकार करने में हमें किसी प्रकार का संकोच भी नहीं है। आज तक के विचार और अनुभव के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि बुद्धि की शुद्धता का चारित्र्य की शुद्धता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमने पाया है कि गांधीजी की बुद्धि हमारी

अपनी बुद्धि की अपेक्षा अधिक शुद्ध है— या यों कह लीजिये कि कम अशुद्ध है। इसलिए जब वे (गांधीजी) कोई नयी बात निकालते हैं, तो हम उसका अनुकूल विचार करने की कोशिश करते हैं। इतना अवश्य है कि जब तक हमारी अपनी बुद्धि को सन्तोष न हो, तब तक हम उनकी बातें नहीं स्वीकारते । परन्तु बारीकी से मीमांसा और छानबीन करने पर भी जब हम उनकी बात समझदारी की और विचारानुकूल पाते हैं, तब हमें विशेष प्रसन्नता होती है । जिस मनुष्य की बुद्धि विशेष शुद्ध हो, जिसका हृदय विशाल हो, प्रतिपक्षी के लिए भी जिसके चित्त में वैर-वृत्ति न हो, उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ भी बहुधा उदात्त और मंगलकारक होती हैं । हम समझते हैं, हमारा यह सिद्धान्त बुद्धिवादियों को भी स्वीकार होगा।

लेकिन जुर्माना अदा करने की नीति का समर्थन करने में हमने इस वृत्ति से काम नहीं लिया। उसमें हमें जो युक्तियाँ प्रतीत हुई, वे शायद गांधीजी के दिल में न भी रही हों। लेकिन इसका कारण यह है कि हम गांधीजी नहीं हैं। हम तो बुद्धिवाद के तल पर से उनकी नीति समझने की कोशिशभर करते हैं । अस्तु।

मनुष्यता में श्रद्धा

गांधीजी की नीति की व्याख्या करते हुए हमने यह कहा था कि अगर हम खुशी से जुर्माना देने लगेंगे, तो जुर्माना करने में सरकार को मजा नहीं आयेगा। आक्षेप यह है कि सरकार को मजा क्यों नहीं आयेगा ? उसे तो पैसे मिलने से मतलब है, अगर वह शोषण या जोर-जबरदस्ती से पैसा ले सकती है, तो जुर्माना से मिलनेवाला पैसा क्यों नहीं लेगी ?

यह आक्षेप तर्कदुष्ट है। इसमें मौलिक दोष तो यह है कि हमने मनुष्यता और सज्जनता के अपने विश्वास को ही तलाक दे दिया है। कया हमारा प्रतिपक्षी मनुष्य नहीं है ? क्या दुर्जनता में सजननता से अधिक शक्ति है? अगर है, तो हमें दुर्जनता की ही शरण लेनी

चाहिए। सज्जनता का स्वांग रचना बेकार है। इस मूलभूत सिद्धांत की दृष्टि से यह आक्षेप बिलकुल टिक नहीं सकता।

शोषक और वंचक की वृत्ति

इस आक्षेप में एक दोष और है। जिसे शोषण से, दगाबाजी से या मुठमर्दी से पैसे ऐंठने की आदत हो गयी हो वह खुशी से दिया हुआ पैसा लेने में अपनी हेठी समझता है। क्योंकि शोषण, अपरहरण, चोरी और जबरदस्ती में वह अपना पराक्रम देखता है। किसी चोर, लुटेरे या अत्याचारी को आप दान दीजिये, वह कभी न लेगा। किराये का मोटरवाला आपसे किराये के एक-एक पैसे के लिए चख-चख करेगा। आपकी बेवकूफी से पैसे हजम हो जाय, तो उसे खुशी होगी। लेकिन आपसे कभी खैरात नहीं लेगा।

जो यह समझते हैं कि बनिये को पैसा मिलता जाय तो वह खुश होगा, उन्होंने अपने-आप को बनिये की जगह रखकर नहीं देखा है । बनिये को आपको ठगने में मजा आता है। खोटे माप रखकर, घटिया माल बेचकर आपको धोखा देने में वह अपनी चतुराई की सफलता का आनन्द अनुभव करता है। क्योंकि उसमें तो उसकी होशियारी और आपका बुद्धपन साबित होता है। और यह सब करते हुए वह दिखाना यह चाहता है कि वह आपके साथ बिलकुल न्याय का व्यवहार कर रहा है।

अब अगर आप बनिये की दुकान पर जाकर कहिये कि, “भाई, तू धोखा तो देने ही वाला है, इसलिए मैं तेरी चार आने की चीज के पाँच आने दे देता हूँ” तो उसका मजा किरकिरा हो जायेगा।

यही न्याय सरकार पर भी लागू होता है और श्री जकातदारजी के उदाहरण ने उसकी सचाई का प्रमाण उपस्थित कर दिया है।

ऐश्वर्य के लिए त्याग

अब रही द्रव्य मोह की बात, 'हम स्वराज्य वैभव का चाहते हैं, या वैराग्य का; जीवन का आनन्द मनुष्यता के विकास में है या उपकरणों के विस्तार में ?'—आदि प्रश्न अप्रस्तुत हैं। जब मनुष्य किसी सिद्धान्त के लिए लड़ता हो, तो उसे प्राण-मोह और द्रव्य-मोह को त्याग करना ही पड़ता है। बल्कि हम तो यहाँ तक कहते हैं कि जो मृत्यु से नहीं डरता, यानी जीवन के मोह को छोड़ देता है, उसीका जीवन सफल और आनन्दमय होता है। उसी प्रकार जो वैभवलोलुपता और धन के मोह को ठुकराता है, उसीका जीवन ऐश्वर्यशाली और समृद्ध होता है। यह बात हम आध्यात्मिक या पारमार्थिक तल पर से नहीं कह रहे हैं, बिलकुल व्यावहारिक और आर्थिक सतह पर से कह रहे हैं। संसार के प्रसिद्ध विजेताओं और धनिकों की जीवनियाँ इसकी पुष्टि करती हैं।

परन्तु यह सारा अपनी-अपनी दृष्टि का प्रश्न है। इसलिए हम इसका अधिक विश्लेषण नहीं करना चाहते। अपनी बात कह देनेभर से हमें सन्तोष है।

गांधीजी के शब्द

इस विषय में कई वर्ष पहले स्वयं गांधीजी ने जो लिखा है, उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत करते हैं—

“सत्याग्रही को पैसे के पीछे कभी नहीं पड़ना चाहिए। द्रव्य और सत्य में निरन्तर संघर्ष है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्याग्रही के पास कभी कोई धन ही नहीं होगा। सत्याग्रही पैसे का गुलाम नहीं होगा।¨ सत्याग्रही को अन्याय का प्रतिकार करना है। अन्याय के अभिभावक तत्-तत्कालीन सत्ताधारी होते हैं। अन्याय के समर्थकों से युद्ध छेड़ने पर कोई व्यक्ति द्रव्य कैसे रख सकता है ? सरकार या राजा जायदाद कुर्क करने की धमकियाँ देकर ही लोगों पर अपनी धाक जमाते हैं। ऐसी परिस्थिति में वे ही लोग पैसा रख सकते हैं,

जो अन्याय का समर्थन करना चाहते हैं । सत्याग्रही को तो दरिद्रता का ही वरण करना होगा। शारीरिक वीरता पर निर्भर करनेवालों को भी दरिद्रता स्वीकारनी पड़ती है, उनको भी कष्ट झेलने पड़ते हैं, उन्हें भी कुटुम्ब का मोह त्यागना पड़ता है।"

२४-३-१९४१

७. सत्याग्रहियों पर इलजाम

पिछले दिनों मध्य-प्रान्त सरकार के चीफ सेक्रेटरी ने और उस दिन समाचार-पत्र-प्रतिनिधियों की परिषद में इस प्रान्त के गवर्नरसाहब ने यह शिकायत की कि इधर सत्याग्रही बिलकुल गैर-जिम्मेवार, असंस्कृत और अनजान होते हैं, वे सरकार के बारे में सरासर झूठी बातें फैलाते हैं। इस तरह की झूठी बातों के कुछ नमूने चीफ सेक्रेटरीसाहब ने-पेश किये।

जिस प्रकार गांधीजी को आखिर अपने साथियों और स्थानीय कांग्रेस-कार्यकर्ताओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है, उसी तरह गवर्नर महोदय को भी अपने स्थानीय कर्मचारियों की रिपोर्टों पर ही भरोसा रखना पड़ता है। इसलिए अगर ये इलजाम गलत या अत्युक्तिपूर्ण हैं, तो उसके लिए हम गवर्नरसाहब को सर्वथा उत्तरदायी नहीं मान सकते।

परन्तु हमें तो इस विषय का विचार बिलकुल दूसरे ही पहलू से करना चाहिए।

जरा अन्तर्मुख हूजिये

जब हमारे प्रतिपक्षी की ओर से ऐसे अभियोग लगाये जाते हैं तब हमें अंतर्मुख होकर अपने हृदय को टटोलना चाहिए। आरोप का जवाब आरोप से और दलील का जवाब दलील से हम दे तो सकते हैं; मगर वह हमारा शील नहीं है। हम तो अपने प्रतिपक्षी को भी अपना मित्र बनाना चाहते हैं। माकूल और मुँहतोड़ जवाब देकर हम अपने प्रतिपक्षी की बात काट सकते हैं। उसकी जीभ भी पकड़ सकते हैं, लेकिन उसका समाधान नहीं कर सकते।

वह जमाना गुजर चुका है, जब हम सरकार से डरते थे, इसलिए उसके खिलाफ तीखी, चटपटी और करारी बात कह कर अपनी निर्भीकता प्रकट करते थे। उस वक्त वह जरूरी भी था। मगर अब तो हम केवल जनता को भड़कानेवाले आन्दोलनकारी नहीं रहे ।

अब तो हम अहिंसक क्रांतिकारी हैं, जो अंग्रेज सरकार को पदच्युत करके उसकी जगह लेना चाहते हैं। इसलिए हमारे व्यवहार से हमारी जिम्मेवारी की प्रतीति, सज्जनता, नम्रता और संयम टपकने चाहिए।

सरकार का शील

हम सरकार से सौजन्य या शुभ व्यवहार की आशा एक हद तक ही कर सकते हैं। अगर सरकार के कर्मचारी असभ्यता और उद्दंडता से पेश आते हैं, तो वे अपने विरुद के अनुसार ही बर्ताव करते हैं। उन्होंने थोड़े ही सभ्यता और सचाई की शपथ ली है ? वे तो एक निरंकुश, गैर-जिम्मेवार और असभ्य सत्ता के प्रतिनिधि हैं। इसलिए उस सत्ता के मूलभूल दोष उनके व्यवहार में अवश्य व्यक्त होंगे। वे इतनी भी सज्जनता और विनय से पेश आते हैं, यही गनीमत है। उनसे यह अपेक्षित नहीं है। इसलिए तो हम अपने निवेदनों में हमेशा इसके लिए उनका आभार मानते हैं।

असत्य और कटुता अनावश्यक है

सरकार से हमारा सम्पर्क तीन बिंदुओं पर होता है : एक सार्वजनिक सभाओं या जमावों में, जेलखानों और अदालतों में, और अखबारों द्वारा प्रकट होनेवाले वक्तव्यों में। हमें यह खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि अब हमें अपनी निर्भयता और स्वतंत्र-वृत्ति साबित करने के लिए सरकारी मुलाजिमों और अलहकारों से रूखा या तीखा व्यवहार करने की जरूरत नहीं रही है । हम अपनी सामर्थ्य सिद्ध कर चुके हैं। अफसरों के भी अफसर रह चुके हैं। इसलिए जहाँ और जब सरकार से हमारा सम्बन्ध आता है, उन सब स्थानों और प्रसंगों में उसके प्रतिनिधियों पर हमारी सज्जनता, विनयशीलता, दृढ़ता और निर्भीक सचाई की गहरी छाप पड़नी चाहिए । गांधीजी जब यह कहते हैं कि संख्या की निस्बत गुण का महत्त्व अधिक है, तब वे इसी बात का संकेत करते हैं।

सरकार के दुष्कर्म, ऐब और उत्पात इतने प्रचुर और इतने विविध हैं कि हमें उसके खिलाफ वातावरण बनाने के लिए अपनी तरफ से नये-नये आरोपों की कल्पना या खोज करने की कतई जरूरत नहीं है। हमें हरगिज नहीं भूलना चाहिए कि हम एक ऐसी संस्था और ऐसे महापुरुष के प्रतिनिधि हैं, जिसने सौजन्य और सचाई की प्रतिज्ञा ली है। हमें अपने तुच्छ-से-तुच्छ व्यवहार में भी यह सावधानी रखनी चाहिए कि हमारी बदौलत उसके यश में कलंक न लगने पाये। छोटी-से-छोटी बात भी हमारे शील और नीति की द्योतक होनी चाहिए। टीका और आलोचना सुनकर हमें अन्तर्मुख होकर, अपने दोषों पर विदारक प्रकाश डालना चाहिए।

३०-५-१९४९

८. सेवा क्षेत्र या निर्वाचन क्षेत्र ?

संसार में जब तक क्षात्र- धर्म का प्राबल्य था, तब तक जीवन के सभी क्षेत्रों में संघर्ष की नीति का प्रतिपादन किया जाता था। जीवन एक विशाल कुरुक्षेत्र या रंगभूमि माना जाता था और सर्वत्र संग्राम चलाने का ही अभ्यास किया जाता था। अब समय में परिवर्तन हुआ है। आज स्पर्धा और लोकशाही का युग है। आत्म-निवेदन ने आत्म-प्रशंसा और आत्मविज्ञापन का जघन्य- रूप धारण किया है। आज के राजनीतिज्ञों की निगाह में जीवन के सभी क्षेत्र चुनाव के मैदान में हैं । यहाँ तक कि मुल्ला-मौलवी, बिशप और पादरी तथा पंडित और शास्त्री इश्तिहारबाजी को आला दर्जे का अस्त्र मानकर उसमें कमाल हासिल करते हुए नजर आते हैं।

डॉ. मुंजेसाहब तो एक मँजे हुए राजनीतिज्ञ ठहरे। वे अगर प्रत्यक्ष प्रतिकार और सत्याग्रह को भी चुनाव में सफलता का एक साधन बनाना चाहें, तो आश्चर्य ही क्या है ? हमारी विनय इतनी ही है कि सत्याग्रह का सम्बन्ध चुनाव के साथ जोड़ने से उसकी सामर्थ्य और कार्य-क्षमता भोथरी हो जायगी।

जनवरी के 'मॉडर्न रिव्यू' में 'बिहार हेरल्ड' से निम्नलिखित अंश उद्धृत किया गया है:

डॉ. मुंजे ने अखबारों को जो एक वक्तव्य दिया है उसके अनुसार कांग्रेस की वर्तमान सत्याग्रह-नीति आगे चलकर जब चुनाव होंगे तब उनमें सफलता पाने की एक चाल है। जनता के हृदय पर फिर से अपना सिक्का जमाने की कांग्रेस की यह कोशिश है । हिन्दू-महासभा भी इस खतरे को समझती है, इसलिए उसे भी कोई न कोई ठोस युक्ति-संगत और न्यायपूर्ण बहाना खोजकर अपना जन-सत्याग्रह करने के लिए विवश होना पड़ेगा।

“जब कि प्रतिस्पर्धी राजनैतिक दल जेलों को कौंसिलों और असेम्बलियों में प्रवेश पाने के प्रयोगालय मानने लगते हैं, तब औसत मनुष्य की आत्मा भले कैसे शान्त रह सकती

है ? क्योंकि उस बेचारे को इन भावी शासकों के खाने और मकान के इंतजाम का सारा खर्च सहना पड़ता है। अपने मतदाताओं में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए कैद में जाने के झंझट से पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों ने मुस्लिम लीग को बचाया है।"

इस उद्धरण की 'मॉडर्न रिव्यू' ने अपनी तरफ से केवल इतनी ही टीका की है कि "दरअसल अंग्रेज सरकार ने मुसलमानों को अभिप्रायपूर्वक यह बड़ी ठोस सुविधा दी है।"

'मॉर्डर्न रिव्यू' ने इस विषय में अपनी राय 'कानून-भंग की होड़' शीर्षक देकर सूचित की है, हम भी अधिक टीका-टिप्पणी नहीं करना चाहते। हमारा इतना ही निवेदन है कि जहाँ प्रतिद्वंद्विता होगी, वहाँ और चाहे जो हो, सत्याग्रह नहीं हो सकता। और जहाँ होड़ की भावना होगी, वहाँ कानून-भंग भले ही हो, लेकिन विजय-वृत्ति कदापि नहीं हो सकती।

निःशस्त्र प्रतिकार की अपरिहार्य कमजोरी

जब शस्त्र प्रतिकार असंभव या अनावश्यक होता है, तभी निःशस्त्र प्रतिकार का अवलंबन करने की प्रथा है। दोनों परिस्थितियों में नि:शस्त्र प्रतिकार श्रेष्ठ और प्रधान साधन नहीं माना जाता। जब गत्यंतर नहीं रहता, तभी इस गौण साधन को स्वीकार किया जाता है । निःशस्त्र प्रतिकार के तत्त्वज्ञान में सशस्त्र प्रतिकार ही प्रधान प्रशस्त और प्रभावकारी साधन है। अगर हम मुख्य अस्त्र सशस्त्र प्रतिकार को ही मानते हैं, तो प्रत्यक्ष है कि हमारी विचारप्रणाली के अनुसार वह निःशस्त्र प्रतिकार सशस्त्र प्रतिकार की बराबरी कभी नहीं कर सकेगा। अर्थात् उसमें उतनी सामर्थ्य, तेजस्विता और पराक्रम के लिए अवकाश ही नहीं है, इससे यह सीधा परिणाम निकलता है कि हम यानी निःशस्त्र प्रतिकारवादी सशस्त्र प्रतिकारवादियों की तुलना में अल्पप्राण और अल्प पुरुषार्थवान् ही रहेंगे । ऐसा दुर्बल और आत्मप्रत्ययहीन अस्त्र क्या काम आयेगा ? निःशस्त्र प्रतिकार-वादियों की मुख्य श्रद्धा और भरोसा तो सशस्त्र प्रतिकार में ही है । ऐसी हालत में अनन्यगतिक और निरालंब होकर हम

जिस गौण अस्त्र का प्रयोग करेंगे, वह हमें सफलता कैसे प्राप्त करा सकेगा ? निःशस्त्र प्रतिकार की कोई स्वतंत्र प्रतिष्ठा नहीं है। यह उसकी स्वाभाविक और अनिवार्य कमजोरी है। अगर हम शस्त्रवादियों को परास्त करना चाहते हैं, तो हमारे लिए दो ही उपाय हैं। या तो हमें शस्त्रास्त्रों के संग्रह और प्रयोग में उनको मात करना चाहिए, या फिर शस्त्र बल से श्रेष्ठटर बल का आश्रय करना चाहिए। दूसरा चारा ही नहीं है।

आज तक हमने भारत में निःशस्त्र प्रतिकार का प्रयोग किया। एक दर्जे तक सफलता भी पायी। लेकिन इस सफलता का कारण शस्त्रनिरपेक्ष वीरवृत्ति थी। जिस अंश में हमने शस्त्रों का भरोसा करना छोड़ दिया, उसी अंश में हमारे निःशस्त्र प्रतिकार के आन्दोलन में वीर-वृत्ति का आविर्भाव हुआ। अब हम ऐसे मुकाम पर आ पहुँचे हैं, जहाँ केवल निःशस्त्र प्रतिकार की गति कुण्ठित हो गयी है। अब हमें या तो श्रेष्ठ शस्त्रबल प्राप्त करके यूरोपीय देशों का अनंत विग्रह का रास्ता अख्तियार करना चाहिए या फिर अहिंसा के श्रेष्ठतर बल का आश्रय करके सर्वतोभद्र प्रतिकार-नीति को अपनाना चाहिए।

शस्त्र-सत्याग्रह बदतो व्याघात है

कुछ लोगों का विचार है कि जिस देश की जनता का जबरदस्ती निःशस्त्रीकरण किया गया हो उसके लिए शस्त्र-सत्याग्रह यानी शस्त्रधारण की मुमानियत करनेवाले कानून का भंग ही सबसे अधिक उपयुक्त और लाभदायक पैंतरा हो सकता है। यह तर्क आपात-रमणीय है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि जबरदस्ती की या लाचारी की अहिंसा वास्तविक अहिंसा नहीं हो सकती और न जबरदस्ती का निःशस्त्रीकरण शस्त्र-संन्यास हो सकता है। वीरवृत्ति की पहली और अनिवार्य शर्त निर्भयता है। इस दृष्टि से अंग्रेज सरकार का शस्त्र कानून एक घोर अपराध है, जो संसार के इतिहास में शायद ही अपना सानी रखता हो।

लेकिन हम यह बात भी नहीं भूल सकते कि दुनिया के इतिहास में भारत का निःशस्त्रीकरण भी एक आश्चर्यजनक घटना है । यह अपूर्व घटना कैसे घटी होगी, यह एक पहेली है, जिसे इतिहासज्ञों को बूझना चाहिए। छह हजार मील से आये हुए मुट्ठीभर विदेशियों ने तत्कालीन सशस्त्र जनता से हथियार सौंप देने को कहा और लोगों ने चुपचाप हथियार नीचे रख दिये । यह अपूर्व घटना कैसे घटित हुई होगी ?

जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि आज का शस्त्र-कानून अन्यायी है ।जो लोग शस्त्र-धारण करना चाहें, उन्हें कानून से मनाही नहीं होनी चाहिए । इस दृष्टि से शस्त्रधारण का अधिकार सिद्ध करने के लिए जो लोग उस कानून की अवज्ञा करना आवश्यक समझें, उन्हें वैसा करने का अधिकार है । परंतु जिनकी अहिंसा में श्रद्धा है, वे उस आन्दोलन में शामिल नहीं हो सकते; ठीक उसी तरह जिस तरह कि एक निरामिष- भोजी मत्स्याहारी या मांसाहारी व्यक्तियों के स्वेच्छा-भोजन के अधिकार की प्राप्ति के आंदोलन में शामिल नहीं हो सकता । जो मांस खाना स्वास्थ्य और नीति की दृष्टि से आवश्यक या वांछनीय समझते हों, उन्हें मांसाशन का अधिकार या अनुज्ञा होनी चाहिए। वे चाहें तो मांसनिषेध के खिलाफ आंदोलन भी करें। लेकिन जो लोग मांसाशन को गलत समझते हैं, वे उस आंदोलन में कैसे हाथ बटा सकते हैं ? कानूनन मांस-निषेध करना वे अनुचित या गलत भले ही मानते हों; लेकिन उसका प्रतिकार वे मांसनिषेध का कानून तोड़ कर अर्थात् खुद मांस खा कर तो नहीं कर सकते।

यह दृष्टांत शायद संपूर्ण रूप से प्रसंग पर घटित भले ही न होता हो, मगर इतना तो निर्विवाद है कि जो लोग अहिंसा और निःशस्त्रीकरण में सच्चे दिल से विश्वास करते हैं और युद्ध तथा शस्त्रीकरण को अनर्थावह मानते हैं, वे शस्त्र-कानून को भंग नहीं कर सकते।

सत्याग्रह शब्द अहिंसक प्रतिकार का वाचक है। इसलिए शस्त्र और सत्याग्रह ये अन्योन्य व्यावर्तक शब्द हैं। अतएव शस्त्र-सत्याग्रह वदतो व्याघात है।

'तो सत्याग्रह न सही'

निःशस्त्र प्रतिकार के समर्थक और पक्षपाती यह कह सकते हैं कि "अगर सत्याग्रह और सशस्त्र प्रतिकार में विप्रतिपत्ति है, तो सत्याग्रह न सही। और संसार की वर्तमान-परिस्थिति में यह सत्याग्रह क्या काम आयेगा ? आज तो शस्त्रीकरण और यंत्रीकरण का बोलबाला है। हम तो सफलता के पुजारी हैं। हमें साधनों के आग्रह से मतलब नहीं है।"

बात सही है। लेकिन सवाल यह है कि क्या दरअसल सशस्त्र प्रतिकार सफल हुआ है ? छोटे-छोटे राष्ट्र शस्त्रों के बल से अपनी स्वाधीनता और प्रतिष्ठा की हिफाजत करने में बिलकुल असफल रहे । इस शस्त्रीकरण की दौड़ में सफलता उसी को मिलेगी जो आधुनिकतम वैज्ञानिक साधनों में सबसे आगे होगा, और जिसका संख्या-बल भी खासा होगा।

जिस प्रकार बाहुबल में सबसे ताकतवर एक ही आदमी हो सकता है और दूसरे सब उसकी तुलना में कमजोर ही हो सकते हैं, उसी प्रकार शस्त्रबल में सबसे बढ़ा-चढ़ा काई एक ही राष्ट्र हो सकता है । दूसरे सब अपेक्षाकृत अल्पशक्तिवाले ही रहेंगे। तो क्या संसार में एक ही व्यक्ति और एक ही राष्ट्र आजाद और इज्जतदार रहेगा ?

हमारा जवाब है, नहीं । जो अपने आत्मबल का भरोसा करेंगे, वे भी स्वाधीन और प्रतिष्ठित होंगे।

कोई कह सकते हैं कि संख्या-बल तो भारत के पास किसी से कम नहीं है। अब सवाल सिर्फ वैज्ञानिक आविष्कार-शक्ति और शस्त्र-बल का रह जाता है, उन्हीं का अर्जन क्यों न किया जाय ? दलील है तो सुहावनी। परन्तु गले नहीं उतरती । हमें यह सारी तैयारी

अविलंब करनी होगी। आज की परिस्थिति में बिना अंग्रेज सरकार की मदद के हम इस प्रकार की कोई योजना कार्यान्वित नहीं कर सकते । नतीजा यह है कि जिस तरह की और जितनी शस्त्रविद्या सरकार हमें सीखने देगी, उतनी ही से संतोष मानना होगा। कौन कह सकता है कि भारत को अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए इतना शस्त्रबल बस होगा ?

इसके विपरीत अगर हम अपने संख्याबल में आत्मबल और मिला दें, तो भारत अजेय हो जायगा । इसलिए आज तो हमारे लिए सत्याग्रह ही सबसे व्यवहार्य और श्रेयस्कर मार्ग है। क्योंकि हम सशस्त्र प्रतिकार से स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकते, यह स्वयंसिद्ध तथ्य है। शस्त्रबल से स्वराज्य स्थापित करने के लिए हमें कम-से-कम अंग्रजों के जितना तो शस्त्रबल प्राप्त करना चाहिए। कहना न होगा कि अंग्रेजों के यहाँ रहते हुए यह असंभव है।

बाह्य आक्रमण का प्रतिकार

कुछ शास्त्राभिमानी यह प्रश्न पूछते नहीं थकते कि "कल को अगर हिटलर, स्टालिन, या जापान ने भारत पर धावा बोल दिया, तो अहिंसा हमारे क्या काम आयेगी ?"

जवाब में एक प्रतिप्रश्न पूछा जा सकता है। हिंसा क्या काम आयेगी ? जब हम जर्मनी, जापान या रूस से बढ़कर शस्त्रबल प्राप्त कर सकेंगे, तभी तो बाह्य आक्रमण का सशस्त्र प्रतिकार करने के काबिल होंगे ? इसमें बरसों लग जायेंगे। तब तक क्या ये विजिगीषु, अधिकारलोलुप्त आक्रमणकारी रुके रहेंगे ? अगर उन्हें आना ही होगा, तो वह मौका बहुत जल्दी आयेगा।

अब यदि इनमें से कोई अपने दलबल-सहित आ धमका तो हम उससे क्या कहेंगे ? "ऐ जर्मनी, रूस या जापान, भई जरा सब्र कर। हम हथियारों के हुनर में जब तक तेरी बराबरी पर न आ जाय, तब तक हमारे दरवाजे पर करता रह।" क्या वह मान जायगा?

किसी दूसरे की सहायता से अगर हम बाहरी हमले का मुकाबला करने की कोशिश करेंगे; तो जो हमारा सहायक होगा वही मालिक बनने की कोशिश करेगा। सारांश, किसी विदेशी सत्ता की चढ़ाई का सामना करने के लिए भी सत्याग्रह के बिना गत्यंतर नहीं है।

भीतरी दंगा-फसाद

अब सिर्फ भीतरी दंगा-फसाद का सवाल रह जाता है । अगर देश में अराजकता हो जाय और लूट-खसोट तथा मारपीट का बाजार गर्म हो, तो उस हालत में हमें अपनी आत्मरक्षा के लिए क्या शस्त्रबल की ही शरण नहीं लेनी पड़ेगी ? क्या हम गुंडाशाही के गुलाम होकर रहेंगे ?

अगर यह सवाल बहुत दूर की सोच कर किया गया होता, तो उसका उत्तर दूसरे ढंग से दिया जाता। परन्तु यह प्रश्न उपस्थित करनेवालों के दिल में तो यह धारणा छिपी हुई है कि इस युद्ध के दौरान में अंग्रेज सरकार का शासन कुछ ढीला हो जाय, तो आम जतना अपना बचाव किस उपाय से करे ?

वस्तुस्थिति यह है कि भारत की सर्व-साधारण जनता के पास न तो शस्त्र हैं, न उन्हें बरतने का इल्म है। ऐसी हालत में उसे अपनी रक्षा के लिए परोपकारी शस्त्रधारियों पर निर्भर रहना होगा। अगर इन्हीं शस्त्रधारियों की नीयत बदल गयी, तो उसका क्या हाल होगा?

सारांश, निकट भविष्य में साधारण जनता की रक्षा के लिए शस्त्र-बल का आयोजन और प्रयोग करना दुष्कर है ! इसीलिए भीतरी हुल्लड़ का सामना करने के लिए भी सत्याग्रह ही एकमात्र अनुष्ठेय और सफल उपाय है।

१४-२-१९४१

९. सत्याग्रह का विधायक स्वरूप

सत्याग्रह के अनेक अर्थ

सत्याग्रह के बारे में कई प्रकार के प्रश्न हमारे साथियों के मन उठते हैं और हमारे साथ मिलकर विचार करने के लिए वे उन प्रश्नों को हमारे सामने रखते हैं । एक प्रश्न अब यह पूछा गया है कि क्या भूदान-यज्ञ-आन्दोलन भी सत्याग्रह का ही एक रूप है ? उस आन्दोलन के प्रणेता विनोबा ने भी हाल ही में यह कहा कि भूदान-यज्ञ-आन्दोलन सत्याग्रह के अनेक रूपों में से एक है। इसलिए जो लोग यह पूछते हैं कि क्या दान और यज्ञ का आन्दोलन पर्याप्त साबित नहीं हुआ, तो विनोबा सत्याग्रह करेंगे ? उन लोगों को विनोबा यह जवाब दिया करते हैं कि भूदान-यज्ञ भी सत्याग्रह का ही रूप है।

हमारे मन में सत्याग्रह के अर्थ के विषय में बहुत-से भ्रम हैं, इसलिए विनोबा के इस कथन से हमें ठीक-ठीक बोध नहीं होता। इस विषय पर थोड़ा विचार करने की जरूरत है।

जीवन गतिमान् है

सत्याग्रह एक जीवन-दर्शन है । हमारा जीवन गतिमान् है। अर्थात् वह हमेशा चलता रहता है। रुकता नहीं है। उसे कोई नहीं रोक सकता। इसलिए जितने दर्शनों का जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध होता है वे कभी रुकते नहीं हैं, और परिपूर्ण भी नहीं होते। जिस दिन जीवन रुक जाता है, उस दिन या तो मृत्यु होती है या मुक्ति होती है। जीवन के नष्ट होने को लोग मृत्यु कहते हैं। और उसकी परिपूर्णता को मोक्ष कहते हैं । इसीलिए मोक्ष का पयार्यवाची शब्द अमृतत्त्व भी है। मौत की तरफ से अमरत्व की तरफ जाने की व्यवस्थित चेष्टा का नाम साधना है । अत: हमारे लिए जीवन एक सिद्धवस्तु—या बनी-बनायी चीज—नहीं है। जब हम पैदा होते हैं तब अपने साथ कुछ लेकर आते हैं। उसके बाद हम कुछ बनने की लगातार कोशिश करते हैं। हम कुछ हैं। और कुछ बनना चाहते हैं। जो कुछ हम बनना

चाहते हैं उसकी तरफ कदम बढ़ाने का नाम ही साधना है। अन्याय के प्रतिकार के क्षेत्र में मनुष्य ने अपने मानवीय गुणों का विकास करने का जो प्रयास किया है उसी में से सत्याग्रह का आविष्कार हुआ है।

सत्याग्रह का आविष्कार

यहाँ 'आविष्कार' शब्द उसके दोनों अर्थों में काम में लाया गया है। हिन्दी में 'आविष्कार' शब्द का प्रचलित अर्थ है 'खोज' या 'शोध', जिसे अंग्रेजी में 'डिस्कवरी' कहते हैं। अन्य भारतीय भाषाओं में 'आविष्कार' का अर्थ है 'प्रकट होना ', 'बाहर दिखाई देना,' 'अभिव्यक्त होना।' एक और भी 'डिस्कवर' शब्द का दूसरा अर्थ है 'अपने-आप को प्रकट करना', 'दृष्टिगोचर होना ।' सत्याग्रह इन दोनों अर्थों में आविष्कार है। वह एक नया शोध भी है और उसके द्वारा हमारा जीवन अधिक प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त भी होता है।

'प्रतिकार' का अर्थ

'प्रतिकार' शब्द के विषय में भी हमारी बुद्धि स्पष्ट होनी चाहिए। संस्कृत भाषा में प्रतिकार का अर्थ जवाब में या बदले में कोई काम करना, इतना ही है। किसीने हमारा उपकार किया हो और उसके परिवर्तन में हम उसकी कोई भलाई करें, तो वह भी प्रतिकार ही है। मतलब यह कि प्रतिकार के मूल अर्थ में केवल विरोध का समावेश नहीं होता। प्रतिकार सहयोगात्मक भी होता है और विरोधात्मक भी। दूसरे के अन्याय या बुरे काम का जब हम विरोध करते हैं तब भी असल में हमारा विरोध उस व्यक्ति के लिए सहयोगात्मक होना चाहिए। विरोधात्मक सत्याग्रह का उद्देश्य और उसकी प्रेरणा सहयोगात्मक ही होती है। इसीलिए सामुदायिक सत्याग्रह के आद्य प्रवर्त्तक गांधीजी आग्रहपूर्वक और विश्वासपूर्वक कहा करते थे कि सत्याग्रह प्रेममूलक और सेवामय होता है, इसीलिए उसमें उभय-कल्याणकारिता का अद्वितीय लक्षण है।

सहयोगात्मक प्रतिकार

अब सुबुद्ध पाठकों को यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि विनोबा भूदान-यज्ञ को सत्याग्रह का रूप क्यों कहते हैं। बुराई के निवारण के लिए जो कुछ किया जाता है, वह सब प्रतिकार ही है। चाहे वह फिर सहयोगात्मक हो या विरोधात्मक। बुरा काम करनेवाला व्यक्ति जब बुराई को ही अपना स्वत्व मान लेता है, तो वह उसके प्रतिकार में सहयोग नहीं देता। अपनी बुराई का ही समर्थन और परीक्षण करने में सारी शक्ति लगा देता है। ऐसा व्यक्ति सत्याग्रही को अपना प्रतिपक्षी भले ही माने, परन्तु सत्याग्रही उसे अपना प्रतिपक्षी नहीं मान सकता। वह तो अपने को उसका सहयोगी मानता है। जब वह विरोध करता है तब भी वस्तु-विशेष और कृति-विशेष का विरोध करता है, न कि व्यक्ति-विशेष का।

सत्याग्रह की विशेषता

इस दृष्टि से विनोबा का भूदान-यज्ञ-आन्दोलन केवल कष्ट-निवारण और दुःख-निवारण का आन्दोलन नहीं है। वह सत्याग्रही क्रान्ति की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आज का अमीर अपनी अमीरी को अपनी बीमारी नहीं मानता। यह दुष्ट नहीं है, लेकिन दोष को ही अपना स्वत्व मानने लगा है। अपरिमित परिग्रह की प्रवृत्ति और कौटुम्बिक तथा स्वामित्व को ही वह अपना स्वत्व समझता है। इसलिए वह सहज तत्परता से अमीरी और गरीबी के निराकरण में सहयोग नहीं देता। कभी हिचकता है। कभी आनाकानी करता है। कभी हीले हवाले करता है। सोचता है, आज की मौत कल तक तो टली। हमें उसके दोष के निवारण के लिए ऐसी प्रक्रिया खोजनी चाहिए और विकसित करनी चाहिए, जिससे कि उसके दोष-निवारण के साथ-साथ उसका हृदय-परिवर्तन भी हो। और अंत में वह हमारी सफलता को अपनी सफलता समझने लगे। सत्याग्रह की प्रक्रिया में यह अन्यतम विशेषता

है कि उसमें एक की जीत और दूसरे की हार नहीं होती। दोनों पक्षों की विजय होती है। अमीरी और गरीबी के निवारण में गरीब की सफलता से अमीर भी जब अपनी सफलता समझने लगेगा तो उसका हृदय-परिवर्तन होगा और वह गरीब का सहयोगी बन जायेगा।

हृदय-परिवर्तन का आरम्भ

परंतु जब तक हमारा अपना हृदय-परिवर्तन नहीं होता है, तब तक हमारा विरोध सत्याग्रह नहीं हो सकता । गरीब के हृदय-परिवर्तन के बिना उसके सत्याग्रह का परिणाम अमीर के हृदय-परिवर्तन में कभी नहीं होगा। अगर गरीब का हृदय- परिवर्तन नहीं होगा तो गरीबी और अमीरी भी किसी हालत में खत्म नहीं होगी। हमें अपना दिल टटोल कर अपने आपसे यह पूछना चाहिए कि क्या हम सिर्फ अपनी गरीबी का निवारण करना चाहते हैं या समाज में से गरीबी और अमीरी के भेद का यानी आर्थिक विषमता का ही निवारण करना चाहते हैं ? अगर हमारी नीयत सिर्फ अपनी गरीबी के निवारण की है, तो हमरी मनोवृत्ति अमीर की मनोवृत्ति से भिन्न नहीं है। वह धनाढ्य है और हम धनाकांक्षी हैं। दोनों में धनतृष्णा और लोभ समान रूप से विद्यमान है। जो क्षुद्र अमीर बनना चाहता है वह यह नहीं चाहता कि दुनिया में गरीब कोई न रहे। वह तो इतना ही चाहता है कि मैं गरीब न रहूँ। यह मनोवृत्ति क्रांतिकारक भूमिका के सर्वथा प्रतिकूल है, इसलिए अमीर के हृदय-परिवर्तन की अनिवार्य शर्त यह है कि पहले गरीब का हृदय-परिवर्तन हो।

गरीब की जिम्मेवारी

भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में इसकी योजना है। गरीबों के पास अत्यल्प परिग्रह है। उनकी मालकियत बहुत ही थोड़ी है, परन्तु फिर भी उन्हें अपने परिग्रह से मोह है और अपनी मालकियत बढ़ाने की निरंतर चिंता है। गरीबी और अमीरी के निवारण में आखिर हमारा उद्देश्य क्या है ? क्रान्ति के बाद भी समाज में कुछ दुष्ट व्यक्ति संभवत: रहेंगे । परंतु जो

समाज हम कायम करेंगे उसकी रचना में दुष्टता के प्रयोग के लिए कम-से-कम अवसर होगा तथा गरीबी और अमीरी के लिए कोई मौका नहीं रहेगा। वर्गहीन समाज-व्यवस्था का यह प्रथम लक्षण है। ऐसी व्यवस्था कायम करने की आकांक्षा और आवश्यकता आज अमीरों की अपेक्षा गरीबों को ज्यादा महसूस होती है, इसलिए गरीब अपनी परिस्थिति में परिवर्तन चाहता है और अमीर उसको अधिक-से-अधिक समय तक बनाये रखना चाहता है। अतएव क्रांति की जिम्मेवारी गरीब पर आ जाती है । इसका मतलब यह हुआ कि परिग्रह और कौटुंबिक तथा निजी सम्पत्ति के विसर्जन में पहला कदम गरीब को रखना चाहिए । गरीब जब अपने-आप परिग्रह और अत्यल्प परिग्रह का उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो जायगा, तो समाज में अपरिग्रह की भूमिका का निर्माण होगा । उसके मन में एक ऐसी अर्थ-रचना स्थापित करने की आकांक्षा होगी, जिसमें थोड़े-से-मालिक और अधिकांश जनता स्वामित्वहीन मजदूर नहीं रह सकेगी।

मालकियत का विसर्जन

अगर मालकियत सबको बाँट दी जायेगी तो सब फुटकर मालिक बन जायेंगे। ऐसी मालकियत 'गुनाह-बेलज्जत' साबित होगी । इसलिए मालकियत के विसर्जन का लक्ष्य ही गरीब को अपने सामने रखना होगा। उसकी इस मनोवृत्ति का प्रमाण यह होगा कि वह अपनी मालकियत के विसर्जन से ही आरंभ करता है। इस हृदय-परिवर्तन की दीक्षा भूदान-यज्ञ-आंदोलन के द्वारा आज गरीबों को मिल रही है। इसीलिए विनोबा ने कहा कि मेरा आंदोलन भिक्षा का समारोह नहीं है, क्रांति की दीक्षा देने का दिव्य महोत्सव है।

भूदान सत्याग्रह का ही रूप है

भूदान-यज्ञ-आंदोलन क्रांति की प्रक्रिया का उपक्रम है और सत्याग्रही प्रतिकार-नीति का महत्त्वपूर्ण पहलू है । यदि देश के सभी क्रांति-प्रिय और क्रांति-प्रवण लोग उसकी इस

अर्थ-व्याप्ति को समझने की कोशिश करें, तो इस देश में एक ऐसी क्रांति सिद्ध होगी, जो मानव मात्र के लिए पदार्थपाठ उपस्थित करेगी और संत्रस्त दुनिया को आशा का संदेश देगी।

१५-२-१९५३

४. जनतंत्र

१. राजसत्ता का आधार

२. भारतीय लोकराज्य का शुभारंभ

३. गुंडाशाही की चुनौती

४. जनतंत्र की शुद्धता के लिए

५. विधायक बुद्धि की चुनौती

६. रामराज्य के राम

७. हरएक का अपना अपना राज

८. सार्वत्रिक संकल्प की सामर्थ्य

९. मतयाचना या मतपरिवर्तन

१०. आगामी चुनाव और विचारों का उलझन

११. चुनाव में सर्वसामान्य और अनिवार्य कसौटियाँ

१२. जनता के सत्त्व का परिपोष

१३. त्रावंकुर-कुचीन का रहस्य

१४. हृदय-परिवर्तन और कालावधि की मर्यादा

१५. स्वतंत्रता का मूल्य

१. राजसत्ता का आधार

हिन्दुस्तान की सैर करने के लिए आये हुए किसी विदेशी यात्री से पूछा गया कि इस देश में वे क्या देखने आये ? जवाब मिला—'ताजमहल और गांधी '। भारत अद्भुत वस्तुओं का एक अप्रतिम भंडार है। जितने आश्चर्य इस देश में पाये जाते हैं उतने दुनिया में शायद ही और कहीं हों । 'ताजमहल' दुनिया की आठवीं अद्भुत वस्तु मानी जाती है। गांधी तो, खैर, अद्वितीय हैं ही।

लेकिन जिसके आँखें हों उसे इस दश में और भी कई आश्चर्य दिखाई देंगे। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि इतना बड़ा गुलामखाना यही एक है। दुनिया के पर्दे पर 'भारत में अंग्रेजी राज' सबसे बड़ा आश्चर्य है।

इस महान् चमत्कार के पीछे और भी अनेक आश्चर्य हैं जिनकी बदौलत वह शक्य हुआ है। ऐसे धर्मध्वजी जो धर्म की रक्षा के लिए अपनी गुलामी की जंजीरों को मजबूत करना चाहते हैं और कहाँ पाइयेगे ? ऐसे स्वदेशाभिमानी जो अपने देशबंधुओं से डरते हैं और उनसे अपनी रक्षा करने के लिए विदेशी सत्ता का सहारा लेते हैं, दुनिया में और कहाँ है ?

इस देश में ऐसे अनेक चमत्कार हैं जो अपने-अपने क्षेत्र में बिलकुल लासानी हैं। उन्हीं में से एक यह भी है कि इस देश में ऐसे राजा हैं जो अपनी प्रजा को अपना दुश्मन समझते हैं; और विदेशी सत्ता से संरक्षण का आश्वासन चाहते हैं।

एक जमाना था जब राजा को गाय की और प्रजा को वत्स की उपमा दी जाती थी। लेकिन अब जमाना बदल गया है। अब तो राजा अपने और प्रजा के हित में विरोध देखता है और सार्वभौम सत्ता से यह आश्वासन चाहता है कि इस विरोध को बनाये रखने में वह हर तरह उसकी मदद करेगी।

गांधीजी राजा लोगों से कहते हैं, "आइये, आप रियासती जनता के प्रतिनिधि बन कर आइये। हम-आप एक साथ बैठकर देश के लिए एक अच्छा विधान बना लें। आपकी प्रजा आनन्दित होगी और आपका भी संतोष बढ़ेगा।"

लेकिन राजा लोग समझते हैं कि "यह कैसी हिमाकत है ? हम अपनी प्रजा के प्रतिनिधि ?—उसके सेवक ? यह तो हमारा घोर अपमान है। गांधीजी कहते तो हैं अपने-आप को राजाओं का मित्र लेकिन इस तरह हमारा गला काटने पर आमादा हैं।"

हमारे यहाँ के राजा लोग इस युग में नहीं रहते। वे नहीं जानते कि अब राजसत्ता के दिन लद गये हैं। यह तो लोकसत्ता का, प्रातिनिधिक शासन का, जमाना है। जब भारत सुखी और सम्पन्न था उस युग में भी राजा अपनी प्रजा का अप्रत्यक्ष और स्वयंनियुक्त प्रतिनिधि होता था। प्रजा की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुमति से ही वह राज करता था। 'लोकाराधन' के लिए प्राणों से प्यारी और विश्वमान्य जानकी को भी छोड़ने के लिए तैयार हो जाता था। क्या आज के सूर्ययंशी और राजा उन्हींके वंशज नहीं हैं ?

पुराने जमाने में राजा विष्णु का अंश माना जाता था। उसकी सत्ता ईश्वरदत्त मानी जाती थी। लेकिन 'विष्णु' अपनी अनुमति किसके द्वारा देता है ? हमारे यहाँ एक पुरानी धारणा है कि अग्नि देवों का मुख है। इसीलिए वह ' हुताशन' कहलाता है। दूसरी यह भी धारणा है कि ब्राह्मण—यानी अपरिग्रही, निःस्पृह और एकनिष्ठ समाज सेवक—भी देवों का मुख है। उसी तरह परमात्मा विश्वात्मा के रूप में अपनी अनुमति देता है।

"जो पाँचहिं मन लागै नीका।

करहुँ हरषि हिय रामहि टीका॥"

लैटिन में भी एक कहावत है, —"जनता की आवाज परमात्मा की आवाज है।" जनता की अनुमति से जिसे राजपद प्राप्त होता है वही विष्णु का अंश है। केवल दक्षिणार्थी

और मिष्टान्नप्रिय ब्राह्मण ईश्वर का मुख नहीं है। वे शहरों और गाँवों को वीरान करनेवाले नरभक्षक बकासुर के मुख हैं । उसी तरह जनता-जनार्दन का जो प्रतिनिधि नहीं है वह विष्णु का भी प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से जनता का प्रतिनिधि बनने में राजा लोगों को अपनी हेठी नहीं समझनी चाहिए; बल्कि अपना गौरव और प्रतिष्ठा समझनी चाहिए। जो राजस्व जनता की अनुमति और सन्तोष पर स्थित है वह सुप्रतिष्ठित और सुरक्षित है। जनता का सुख ही उसकी अविकंपनीय भित्ति है और संतुष्ट जनता का प्रेम ही उसका सर्वश्रेष्ठ बल। फिर उसे किसी बाह्य आश्वासन की जरूरत नहीं रह जाती। प्रजा का सहयोग ही उसके लिए सुरक्षा का पर्याप्त आश्वासन है।

जब सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर जैसे विधान-पंडित भी यह कहते पाये जाते हैं कि "अगर ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता अधिकारन्यास कर दे तो भारतीय रियासतों की फिर वही स्थिति रहेगी जो ब्रिटिशों के साथ संधि होने से पहले थी, "तब तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रह जाता। ब्रिटिश सरकार से सन्धि करने की अपेक्षा भारतीय जनता के साथ सन्धि करना क्या इतना अपमानजनक है ? जिनके दिल में जनता के प्रति इतना अनादर है वे इस युग के लोक-प्रतिनिधि कैसे हो सकते हैं ? उनका राजस्व ताश का महल है जो पवन के हलके-से झोके से ढह सकता है।

जिस इंग्लैंड के सिंहासन के प्रति हमारे राजा लोग अपनी निष्ठा व्यक्त करते हैं वह सिंहासन अपनी सत्ता लोकप्रतिनिधियों की राय से नियंत्रित मानता है । लोकसत्ता की मर्यादा में रहने में वह अपनी शान और गौरव समझता है। क्या हमारे राजाओं को भी अपनी प्रजा के वास्तविक प्रतिनिधि बनने में अपने-को गौरवान्वित और महिमान्वित नहीं मानना चाहिए ? क्या उन्होंने ब्रिटिश सम्राट से संधि इसीलिए की थी कि उन्हें अनियंत्रित सत्ता के

उपयोग की सनद मिले ? क्या अपनी प्रजा के और अपने हित में विरोध स्वीकार करना लज्जाजनक नहीं है ?

ये प्रश्न हैं जिनका हमारे देशी नेरशों को गंभीरता से विचार करना चाहिए। सामंतशाही और महाजनशाही का युग अब समाप्त हो रहा है। लेकिन जो शासन के क्षेत्र को भी जनता की सेवा का एक महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं उनका स्थान सदा रहेगा। जनता अपनी आँखें बिछाकर उनका स्वागत करेगी। उन्हें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि राजकीय अधिकार—बल्कि सारी राजनैतिक सत्ता—की बुनियाद जनमत है।

इसलिए उन्हें गांधीजी की निम्न सूचना पर बड़ी तत्परता से अमल करना चाहिए:

“जहाँ तक देशी राजाओं का तालुक है, वे भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक भाग्य का निर्णय करनेवाली इस राष्ट्रीय पंचायत में शामिल हो सकते हैं। मगर अपनी व्यक्तिगत हैंसियत से नहीं । बल्कि अपनी जनता के प्रतिनिधियों की हैसियत से । मांडलिक राजाओं के नाते वे ब्रिटिश ताज के बड़े आश्रित हैं । मैं तो समझता हूँ कि ब्रिटिश ताज से पृथक् उनकी कोई सत्ता नहीं है; कम से कम उससे श्रेष्ठ प्रतिष्ठा तो नहीं है। ब्रिटिश सम्राट की आज सारे भारतवर्ष में जो सत्ता है उसे यदि वह छोड़ दे तो स्वाभाविक रूप से देशी राजाओं को भी अपनी सत्ता छोड़नी पड़ेगी । उन्हें भारत की जनता की ओर देखने में गर्व होना चाहिए। आशा है कि हिन्दुस्तान की मूक और प्रतिनिधिरहित जनता की ओर से जो माँग मैं कर रहा हूँ वह बेजा नहीं समझी जायगी।"

उन्हीं राजाओं के एक दूसरे आदरणीय और शान्त मित्र माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने उन्हें निम्न संयत शब्दों में गंभीर चेतावनी दी थी :

“कलकत्ते में मैंने अपना अंदेशा प्रकट किया था और यहाँ मैं उसे दोहराता हूँ कि वे उस परिणाम से बचने की कोशिश करें जो शायद उन्हें भुगतना पड़े—उस परिणाम से जो

उन लोगों को भुगतना पड़ेगा जो हिन्दुस्तान के अपनी ध्येय की ओर प्रगति के रास्ते में रोड़ों के समान अपना उपयोग होने देंगे। आज वे सुरक्षित भले ही हों। लेकिन वह दिन आने ही वाला है जब भारत पूर्णरूप से जाग्रत होगा, अपनी इच्छा पर अमल करने में और जिन लोगों ने उसकी ध्येय-प्राप्ति में मदद करने के बजाय उसके रास्ते में बाधाएँ उपस्थित कीं उनके प्रति यथोचित व्यवहार करने में समर्थ होगा।"

यह किसी बिगड़े दिमागवाले क्रान्तिकारी की धमकी नहीं है। एक शान्त और गंभीर प्रकृतिवाले समयज्ञ और व्यवहारपटु राजनीतिज्ञ की सात्विक चेतावनी है।

मार्च, १९४०

२. भारतीय लोकराज्य का शुभारंभ

'कालि लगन भलि केतिक बारा'

ता. २६ जनवरी, १९५० के दिन भारतीय लोकराज्य की घोषणा और स्थापना हुई। भारतीय लोकराज्य के लिए गांधीजी प्राय: 'राम-राज्य' शब्द का प्रयोग किया करते थे। कभी-कभी 'पंचायती राज्य' शब्द-प्रयोग भी उन्होंने किया है, परंतु लोक- भावना को इष्ट दिशा में मोड़ने की दृष्टि से परम्परापुनीत और प्रेरणादायी 'रामराज्य' शब्द ही उन्हें अधिक प्रिय था। रामचंद्रजी के राज्याभिषेक की जब घोषणा हुई तो सारे अवध-निवासियों में आनंद और उत्साह की एक प्रचंड उमंग फैल गयी । अयोध्या की स्त्रियाँ भी एक-दूसरी से पूछने लगीं कि "कालि लगन भलि केतिक बारा—पूजिहि बिधि अभिलाषु हमारा ।" सब तरफ उत्सुकता थी, उत्कंठा थी और उत्साह था।

जहाँ शुभ-अनुष्ठान, वही शुभ घड़ी

भारतीय लोकराज्य की स्थापना के मुहूर्त के बारे में जिस देश के स्वातंत्र्य-प्रेमी नागरिकों के मन में यह स्वाभाविक आकांक्षा और अभिलाषा थी कि उस ऐतिहासिक समारोह का मुहूर्त शुभ हो। कभी ज्योतिषियों ने बड़ी स्नेह-युक्त कातरता के साथ कहा कि यह २६ जनवरी की 'लगन' शुभ नहीं है, ग्रह अनुकूल नहीं हैं, इसलिए दूसरी 'लगन' और दूसरा दिन निश्चित किया जाय। भारतीय लोकराज्य के बुद्धिवादी और पुरुषार्थवादी प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू पर इस अनुरोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने विधिपूर्वक भारतीय लोकराज्य की स्थापना २६ जनवरी के सुमुहूर्त पर संपन्न करायी। प्रधान-मंत्री को परंपरानिष्ठ संस्कृतिवादियों ने अभारतीय कहा, परंपराहीन कहा और न जाने क्या-क्या कहा !

जवाहरलालजी की इस वृत्ति में एक महान् संकेत है और एक नवीन प्रेरणा भी है। कोई भी मुहूर्त अपने में शुभ या अशुभ नहीं होता, जिस प्रकार कोई भी क्षेत्र अपने में पवित्र या अपवित्र नहीं होता। जिस स्थान में या क्षेत्र में अनेक शुभ कार्यों का या पवित्र कार्यों का अनुष्ठान होता रहा हो, वह उन मंगल-कार्यों की सामर्थ्य से पुनीत और पवित्र हो जाता है। जिस कुरुक्षेत्र में कुरुवंश का संहार हुआ, उस कुरुक्षेत्र का उल्लेख धर्मक्षेत्र के नाम से किया गया है। यह अपावन कुरुक्षेत्र उस समय तक धर्मक्षेत्र क्यों माना जाता रहा होगा ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है। उस भूमि पर धार्मिक पुण्यकार्यों का अनुष्ठान अनेक बार हुआ होगा। या फिर उसे धर्मक्षेत्र इसलिए कहा होगा कि पाण्डवों का धर्मयुद्ध उस क्षेत्र में लड़ा जानेवाला था। जो हो, कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र इसलिए कहलाया कि उसका धार्मिक क्रिया के अनुष्ठान से संबंध था।

कोई देश और काल निसर्गत: पुण्यकारक या अपुण्यकारक नहीं होते । पुण्यदेश वह कहलाता है, जहाँ के लोगों की भावना और आचरण शुभकारक और कल्याणकारक होते हैं। जो नियम देश के लिए लागू है, वही काल के लिए भी लागू है। पुण्य-काल या पुण्य-मुहूर्त वही है जिसमें किसी महान् शुभसंकल्प का उच्चारण या आचरण होता है। वह घड़ी पवित्र है, जिसमें मनुष्य के हृदय में मंगलकारक प्रेरणा जाग उठती है।

जहाँ पुण्य-कार्य, वहाँ पुण्य-पर्व

किसी ने पूछा कि जो संत बाहर और भीतर से पुण्य-रूप हो गये हैं, वे तीर्थयात्रा क्यों करते हैं और तीर्थों में क्यों नहाते हैं ? धर्म के हृदय को पहचाननेवाले मर्मज्ञ ने जवाब दिया—'तीर्थक्षेत्रों को पुण्यदान करने के लिए, वहाँ पवित्रता का आधान करने के लिए। प्रसन्नसलिला नदियों के तीर पर सन्तों ने धर्म का अनुष्ठान किया। इसीलिए “गांगेवारि मनोहारि पापहारि" भी हुआ। जिस प्रकार दैव का निर्माण कर्म या पुरुषार्थ करता है, इसी

प्रकार प्रदेश या प्रसंग की पवित्रता, शुभ-संकल्प और शुभ-कार्य के कारण प्रस्थापित होती है। जहाँ पुण्य-कार्य होता है, वह पुण्य-देश है। जिसमें पुण्य-कार्य होता है, वही पुण्य-पर्व है। या तो भूतकालीन पुण्य कर्मों का संकेत वहाँ के वातावरण को पुनीत रखता है या भविष्य काल में होनेवाले पुण्यकार्य की सूचना उसे मांगल्य से भर देती है।

पुराणों में ऐसे संकेत बड़े मनोरंजक रूप में पाये जाते हैं। रावण पुरुषार्थी और पराक्रमी था। जो देवता राम के राज्याभिषेक में विघ्न कर सके, उनमें से कभी रावण के पलंग के पायों के नीचे दबे बैठे थे। सारे ग्रह उससे थर-थर काँपते थे। उसके उग्र पुरुषार्थ के सामने उनमें से किसी की अशुभकारिणी शक्ति प्रवृत्त नहीं होती थी। रामजन्म की घड़ी आयी तो सारे शुभ ग्रह सम्मुख हो गये और सेवा में आकर उपस्थित हो गये। इन पौराणिक संकेतों में बहुत गहरा अर्थ है।

और फिर हमारा देश तो कई धर्मों का पवित्र संगम-क्षेत्र है। वह मानवता का प्रयाग है, सारी शुभवृत्तियों का तीरथराज है। एक धर्म की दृष्टि से जो शुभ-मुहूर्त हो, वही दूसरे धर्म की दृष्टि से अशुभ हो सकता है। जहाँ कालगणना और तिथियों के निश्चय में अनेक भेद हैं, उस देश में तो शुभाशुभता या मांगल्य और अमांगल्य, देश और काल की अपेक्षा मनुष्य के संकल्प और क्रिया में ही अधिक हो सकते हैं।

रावी का पुण्य-संकल्प

इस दृष्टि से २६ जनवरी भारतीय जनता के लिए एक महान् पुण्य-पर्व है। ठीक २१ साल पहले रावी के तट पर आज के प्रधान मंत्री, और उस वक्त के राष्ट्रपति श्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रसभा के मंच पर से संपूर्ण स्वराज्य की प्रतिज्ञा घोषित की । इस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए उन्होंने वही तारीख निर्धारित की। भारतीय स्वतंत्रता के आन्दोलन में ता. २६ जनवरी का विशिष्ट महत्त्व है। वह पूर्ण स्वराज्य के पवित्र संकल्प का दिन है। ।

भारतीय लोकराज्य की स्थापना का मुहूर्त भारतीय जनता की शुभकामनाओं से और शुभ आकांक्षाओं से पुनीत हुआ है। भक्तों और साधकों की हमेशा यह निष्ठा रही है कि जो लोग पुण्यकार्य में प्रवृत्त होते हैं, उनका कभी अमंगल नहीं होता ।'सर्वदा शुभकार्येषु शास्ति तेषाममंगलम्' जिस क्षण मनुष्य अपने शुभसंकल्प को कार्यान्वित करने के लिए शुद्ध और संदेह रहित चित्त से प्रवृत्त होता है, वही उसके लिए 'शुभ लगन' है। 'तदेव लग्नं सुदिनं तदेव । ताराबलं चंद्रबलं तदेव ।'

पुनीत दिवस पर पुनीत संकल्प

भारतीय लोकराज्य की स्थापना का पवित्र व अपूर्व समारंभ तो संपन्न हो चुका। लेकिन शुभ-संकल्प और शुभकार्यों के आयोजन सिर्फ कागजों पर नहीं होते। अफलातून ने सच ही कहा है कि 'विधान चट्टानों में से पैदा नहीं होते। वे मनुष्य की प्रवृत्तियों में से पैदा होते हैं।' हमने अपने लोकराज्य के विधान में सामाजिक न्याय और आर्थिक न्याय की प्रतिज्ञा की है। परन्तु जब तक वह हमारे जीवन में चरितार्थ नहीं होगी, तब तक वह घोषणा चाहे सुनहरे अक्षरों में भी क्यों न लिखी गयी हो, शुष्क और निर्जीव रहेगी। जब तक जनता को सामाजिक और आर्थिक न्याय के उपक्रम का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होगा, तब तक उसे स्वतंत्रता की और लोकराज्य की प्रतीति नहीं आयेगी। ।

इस भावरूप प्रतीति को जनता के हृदय में जागृत करना लोकराज्य की स्थापना के बाद का सबसे महान् कर्तव्य है। अब तक केवल प्रतिबन्ध-निवारण हुआ है। अब प्रत्यक्ष विधायक प्रवृत्ति का आरम्भ होना चाहिए। शायद इसी भावना से आचार्य कृपलानी कहा करते हैं, 'भारतीय स्वतंत्रता अभी अपूर्ण है। वास्तव में हमें जो कुछ मिला है, वह यथार्थ स्वतन्त्रता नहीं है। अंग्रेजों ने हमारे रास्ते में जो रुकावटें खड़ी कर दी थीं, उनको सिर्फ हटाया गया है।'

विघ्नों का, प्रतिबन्धों का, प्रत्यवायों का निवारण कोई छोटी बात नहीं है। वह प्राथमिक और सबसे बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में यह प्रार्थना की जाती है कि 'ये भूताविघ्नकर्तारः ते गच्छन्तु शिवाज्ञया ।'—जो विघ्नकारी तत्त्व हैं, वे सब मांगल्य की प्रेरणा से नष्ट हो जायँ। कृपलानीजी का मतलब यह है कि केवल विघ्नों के निराकरण से शुभ कार्य की सिद्धि नहीं होती । उसके लिए प्रत्यक्ष विधायक प्रयत्न की आवश्यकता होती है । इस देश में वास्तविक लोकराज्य की स्थापना के लिए यानी सामाजिक और आर्थिक न्याय की प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए आर्थिक क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तनों की आवश्यकता है । इस दिशा में जब तक एक के बाद एक कदम योजनापूर्वक नहीं उठाया जायगा, तब तक यह लोकराज्य भी अपूर्ण स्वराज्य होगा।

राष्ट्रनेता की चेतावनी

हमारे लोकराज्य के प्रमुख सूत्रधार और स्फूर्तिदाता श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'भारत का आविष्कार' नामक अंग्रेजी पुस्तक में एक चेतावनी दी है—'जब सत्ता प्राप्त हो जाती है तो दूसरी बहुत-सी मूल्यवान बातें छोड़ जाती हैं। ध्येयनिष्ठा की जगह राजनैतिक छल-प्रपंच और साजिशें ले लेती हैं और कायरता तथा स्वार्थ, निरपेक्ष पराक्रम का स्थान ले लेते हैं । जवाहरलालजी हमारे लोकराज्य के प्रमुख सूत्रधार ही नहीं, संसार के सर्वश्रेष्ठ ध्येयपरायण राज्यनेता भी हैं। उनके जैसे संस्कृति-संपन्न पुरुष के लिए राज्य और स्वराज्य, सत्ता और स्वतंत्रता के भेद का स्पष्ट प्रबोध होना स्वाभाविक ही है। लोकराज्य में सत्ता की अपेक्षा स्वतन्त्रता और समानता का महत्त्व कहीं अधिक है । सत्ता की आकांक्षा गाँव-गाँव में छोटे-छोटे हजारों इन्द्र पैदा करेगी, जिन्हें न स्वतंत्रता की परवाह होगी और न समानता की फिकर।

बापू की सीख

इसलिए हमारे प्रथम लोकाध्यक्ष (राष्ट्रपति) ने और प्रधान मंत्री ने अपने-अपने संदेशों में हमारे राष्ट्रपिता की सिखावन की तरफ हमारा ध्यान दिलाया और हमसे अनुरोध किया है कि उनके सिखाये हुए सिद्धान्तों का और उनके बताये हुए मार्ग का हमें निश्चयपूर्वक अनुसरण करना चाहिए । वास्तविक लोकराज की स्थापना का यही उपाय है। उस उपाय का प्रयोग यदि हम निष्ठापूर्वक करने लगेंगे, तो हमारे लोकराज्य की स्थापना का मुहूर्त न केवल भारत-वर्ष के लिए बल्कि अखिल जगत् के लिए एक सार्वभौम शुभ-मुहूर्त सिद्ध होगा।

१०-२-१९५०

३. गुण्डाशाही की चुनौती

सेवाकांक्षा के मायावी रूप में सत्ता

कांग्रेस की प्राथमिक पंचायतों के चुनाव हाल ही में सारे देशभर में हुए हैं। किसी भी राजनैतिक पक्ष में जब अंतर्गत चुनाव होते हैं, तो उन चुनावों में प्राय: व्यक्तिगत सत्ताकांक्षा, गुटबन्दी और गिरोहबन्दी भी अधम से अधम स्वरूप में प्रकट होती है। जितने व्यक्ति, गिरोह या समूह चुनाव के क्षेत्र में उतरते हैं, वे सभी लोक-हित की तथा जन-सेवा की दुहाई देते हैं। हरएक मानो सत्ता को सेवा का साधन मानकर ही सत्ता अपने हाथ में लेना चाहता है। कोई प्रकट रूप से यह नहीं कहता कि वह प्रभुत्व के लिए या दूसरे मनुष्य पर हुकूमत करने के लिए सत्ता चाहता है। फिर भी हम देखते हैं कि जहाँ त्यागमय और तपोमय सेवा होती है, उस क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा, प्रतिद्वंद्विता या ऊपरी चढ़ाव करीब-करीब नहीं के बराबर होते हैं। लेकिन सत्ता के क्षेत्र में प्रभुत्ववाद अक्सर सेवाकांक्षा का मायावी रूप बनाकर मैदान में आता है । इसीलिए वहाँ इतनी ईर्ष्या, प्रतियोगिता और कटुता दिखायी देती है। जब तक अंग्रेजों का राज था, हमारे लिए अंतिम और वास्तविक सत्ता के दरवाजे बंद थे। अंग्रेजों की अमलदारी में हुकूमत नौकरशाही की थी। इसलिए हमारी सत्ताकांक्षिता के लिए बहुत कम अवसर था। हमें अधिकतर प्रतिकार ही करना पड़ता था और वह भी ऐसा प्रतिकार, जिनमें व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा को भी तप और त्याग की ही शरण लेनी पड़ती थी।

जनतंत्र के लिए खतरा

आज सारी कैफियत ही बदल गयी है । अब हम सम्पूर्ण सत्ताधारी और अन्तिम सत्ताधारी हो गये हैं। आज कांग्रेस पक्ष सत्तारूढ़ है। इसलिए उस पक्ष में दूसरे सभी पक्षों की अपेक्षा सत्तावाद के लिए अन्तर्गत गुटबन्दी और दलबंदी तथा व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की मात्रा अधिक है। नतीजा यह है कि सत्ताप्राप्ति के लिए मनमाने साधनों का अवलम्बन

करने में और चाहे जो उपाय काम में लाने में प्रतिस्पर्धी व्यक्तियों ने, दलों ने, और गिरोहों ने कोई विवेक या मर्यादा नहीं रखी है। चुनावों में सफलता पाना ही उनका एकमात्र लक्ष्य रहा है। मनुष्य जहाँ सिर्फ सफलता का कायल हो जाता है, वहाँ फिर उसे साधनों और उपकरणों की शुद्धता का कोई ध्यान नहीं रहता। कांग्रेस के अन्तर्गत चुनाव में कई जगह यही हुआ है और हो रहा है । प्रतिस्पर्धी व्यक्ति और दल एक-दूसरे पर दगाबाजी, गुण्डाशाही और काली करतूतों का आरोप कर रहे हैं। जब दोनों पक्ष एक-दूसरे पर आरोप करते हैं तो दोनों कुछ अंश में झूठे और कुछ अंश में सच्चे होते हैं । सचाई यह है कि इन चुनावों में जगह-जगह पर धोखाधड़ी और गुण्डेबाजी से काम लिया गया है। जो लोग कांग्रेस को गांधीजी की अहिंसक प्रक्रिया का, यदि प्रत्यक्ष नहीं तो कम से कम अप्रत्यक्ष उपकरण बनाना चाहते हैं, उनके मन में यह बात एक गम्भीर और जबरदस्त बेचैनी पैदा करनेवाली है। अगर कांग्रेस के अन्तर्गत-चुनाव में सत्तावाद गुण्डागिरी की सहायता लेने लगा तब तो इस देश में जनतंत्र की कुशल नहीं। जगह-जगह पर चुनाव में मारपीट हुई है, छीना-झपटी हुई है । गाली-गलौज और आरोप-प्रत्यारोपों का तो कोई ठिकाना ही नहीं रह गया है । लेकिन इन सबसे अधिक गम्भीर और भयावह बात यह है कि चुनाव के अधिकारियों पर भी धमकियों तथा जोर-जबरदस्ती का प्रयोग किया गया है।

शासन और अनुशासन-दोनों कसौटी पर

यह प्रवृत्ति हमको कहाँ ले जायेगी ? सवाल यह है कि एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप करनेवाले वादी-प्रतिवादियों में से कौन कितना दोषी है। हमारे लिए गम्भीर चिन्ता और चिन्तन का विषय यह है कि शासन और अनुशासन, दोनों शिथिल हो रहे हैं। निरंकुशता और उच्छृंखलता जोर पकड़ रही है। इसमें से लोकसत्ता का विकास होने के बदले अनियन्त्रित गुण्डाराज की ही स्थापना होने का डर अधिक है। इस प्रवृत्ति का प्रतिरोध केवल हमारे अखिल भारतीय नेताओं की जागरूकता और न्यायनिष्ठुरता से नहीं हो सकेगा।

कांग्रेस के जो स्थानीय छोटे-छोटे कार्यकर्ता हैं, उनमें अगर वास्तविक लोकसत्ता की स्थापना की लगन न हो और कांग्रेस की मर्यादा का निरन्तर ध्यान रखने की वृत्ति न हो तो कांग्रेस इस देश में वास्तविक लोकसत्ता की स्थापना का उपकरण भला कैसे बन सकती है ?

स्वतंत्रता या स्वैरवृत्ति

स्वतन्त्रता के बाद से सारे देश में स्वैरता और स्वच्छन्दता की वृत्ति बढ़ रही है, इसमें कोई शक नहीं। यह बात जितनी स्वाभाविक है, उतनी ही भयंकर भी। अंग्रेजों के जमाने में शासन भय के आधार पर चलता था। लोग अंग्रेजों से डरते थे। सरकारी नौकर भी हमेशा साहब का डर मन में रखता था। अब सभी स्वतन्त्र हैं, सभी आजाद हैं। किसीको किसीसे डरने की जरूरत नहीं, किसी के किसी से डरने का कारण नहीं। बात अगर यहीं रुक जाती तो कोई हानि नहीं थी। पारस्परिक निर्भयता का अमल सब तरफ होता और एक तरह का स्वास्थ्यपूर्ण वातावरण सारे देश में स्थापित हो जाता, लेकिन बात ठीक उलटी हो रही है। शासन की धाक और प्रतिष्ठा बढ़ने के बदले अराजकता और गुण्डागिरी की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है। हरएक यह शिकायत कर रहा है कि गुण्डाशाही का बाजार गर्म है। छोटे से छोटे गाँव के लोग भी आज गुण्डों के मारे परेशान हैं। वे कहते हैं कि यह राज न तो कांग्रेस का है, न भले आदमियों का। राज चालबाजों का है, पैसेवालों का है या फिर मुठमर्दों का है। पैसे की सत्ता के स्वरूप की मीमांसा सर्वोदय में नित्य होती रहती है और होती रहेगी, लेकिन गुण्डागिरी के वास्तविक प्रतिकार के लिए गुण्डा नाम के प्राणी की उत्पत्ति और उसके स्वरूप को जान लेना नितान्त आवश्यक है।

लाठी-वाद की सन्तान : केवल गुण्डाशाही

किसी भी गाँव में जाकर गाँववालों से पूछिये कि आखिर यह गुण्डा अपनी गुजर-बसर के लिए कौन-सा रोजगार करता है ? प्रायः आपको यह जवाब मिलेगा कि उसकी लाठी ही उसका भाग्य है। अंग्रेजी में एक विनोदी कविता है, छोटे बालकों के लिए। ग्वालिन की बेटी को छेड़ने के लिए एक छैला पूछता है—हे सुन्दरी! तुम्हारी दौलत क्या है ? लड़की जवाब देती है—'मेरा हुस्न ही मेरी दौलत और मेरी किस्मत है।' गुण्डे की दौलत, उसकी प्रतिष्ठा, उसके व्यवसाय का उपकरण, उसका भाग्य उसकी लाठी ही है। उसका दूसरा कोई रोजगार नहीं, दूसरा कोई प्रतिष्ठा का साधन नहीं। लाठी के भरोसे गाँव में वह बड़ी शान से जीता है और एक तरह की हुकूमत भी करता है। थैलीवाला जिस प्रकार बिना परिश्रम के इज्जत और मान के साथ जीता है, उसी तरह लाठीवाला भी बिना परिश्रम के प्रतिष्ठा के साथ 'जीवन'-यापन करता है। जितना थैलीवाला परोपजीवी और निठल्ला है, उतना यह भी है। यह इसलिए इज्जत के साथ जी सकता है कि इज्जतदार कहलाने वाले लोग अपनी इज्जत के रक्षण के लिए और दूसरों की इजत के अपरहण के लिए, इस दण्डधर का उपयोग किया करते हैं । हमारी सभ्यता और शराफत लाठी का सहारा खोजती रहती है। सहारा लेनेवाले की अपेक्षा जिसका सहारा लिया जाता है, उसकी प्रतिष्ठा हमेशा अधिक होती है। आश्रित की अपेक्षा आश्रयदाता सदैव श्रेष्ठ रहेगा। हर शहर में और हर गाँव में प्रतिष्ठित और सम्मानित लोग अपनी-अपनी मान-मर्यादा और सत्ता की रक्षा के लिए अक्सर लाठीधारियों को रख लेते हैं। दूसरों पर अपना दबदबा और अपनी ठकुराई कायम रखने के लिए इन लाठीधारियों का उपयोग भी करते हैं। लाठीधारी का अपना न कोई सिद्धान्त है, न कोई निष्ठा है और न कोई पक्ष ही है। वह आप-पर-भाव से परे है। उदासीन और निर्मम है। जो कोई उसे धन दे, उसकी सेवा में उसकी लाठी तत्पर है। नतीजा यह है कि लाठी ही सारी सभ्यता की अन्तिम और आधारभूत प्रतिष्ठा हो गयी है। बहुत-से

पुराणमतवादी और जीर्णमतवादी यह जतलाते हुए कभी नहीं थकते कि धर्म का, संस्कृति का और शान्ति का भी अन्तिम अधिष्ठान दण्ड ही है। अगर यह सच है तो जनतन्त्र का भी अन्तिम आधार लाठी ही रहेगी।

गुण्डाशाही का हल जनता के पास

परन्तु परमात्मा की असीम कृपा से वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। थैली की प्रतिष्ठा की तरह लाठी की प्रतिष्ठा भी अप्राकृतिक और कृत्रिम है। साधारण नागरिकों के केवल सामुदायिक संकल्प से ही उसका अन्त हो सकता है। इज्जतदार और सभ्य पुरुष अपनी मानरक्षा और सत्ता के लिए लाठी का आश्रय लेना जिस दिन बुद्धिपूर्वक छोड़ देंगे, उसी दिन और उसी क्षण से गुण्डाशाही का अन्त हो जायगा ।

सभ्यता ने अपनी रक्षा के लिए और शान्ति की स्थापना के लिए आज तक थैली और लाठी की पनाह ली है। जब कभी किसी गाँव में अशान्ति का अन्देशा होता है तो अधिकारी वर्ग वहाँ के भले आदमियों की सभा कराता है। ये भले आदमी अक्सर वहाँ के महाजन और साहूकार होते हैं, क्योंकि महाजनी और साहूकारी ही भलेपन की निशानी है। गाँव के शरीर-सम्पत्तिशाली मल्ल और पहलवान बहुधा उनके आश्रित होते हैं। अपने काम के लिए धनवान् इन्हें पालते-पोसते हैं और इन्हींके भरोसे अमन कायम करते हैं । इसलिए सरकारी अधिकारी भी इन्हीं शरीर-सम्पत्ति-सम्पन्न बलभद्रों को अपनी मदद के लिए बुलाते हैं। इस प्रकार सत्ताधारियों का गठबन्धन दण्डधारियों के साथ हो जाता है और सब तरफ से यह शिकायत सुनाई देने लगती है कि पुलिसवाले गुण्डों के साथ मिल गये हैं। असल में वे मिल नहीं गये हैं, उन्होंने भी शान्ति स्थापना के परम्परा से प्रचलित और सुलभ उपाय को अपना लिया है।

गुण्डाशाही की जड़ें

इस प्रकार गुण्डागिरी का यह मर्ज बहुत गहरा और मूलभूत है । उसके कारणों को और उसके मूल को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। तभी हम उसका निराकरण कर सकेंगे। धन की सत्ता के निराकरण के लिए हमने यह उपाय खोजा कि जो काम नहीं करेगा, उसे रोटी नहीं मिलेगी । यही सूत्र गुंडागिरी के निराकरण के लिए भी उपयोगी और कार्यक्षम साबित होगा । जो काम नहीं करेगा, वह भोग नहीं लगा पायेगा । इस तरह बिना परिश्रम के केवल लाठी के भरोसे जीनेवालों के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा । मूलभूत बीमारियों के लिए मूलभूत उपायों की आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से गुण्डागिरी की जड़ें खोजने का थोड़ा-सा प्रयास यहाँ किया है।

अर्थ-गुलाम धर्म-संस्थाएँ

सामाजिक और वैयक्तिक प्रतिष्ठा के संरक्षण के लिए जिस प्रकार हम लाठी का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार धार्मिक प्रतिष्ठा और प्रचार के लिए भी दण्ड की सहायता लेना शिष्ट-संमत और रूढ़ नीति है। सम्प्रदाय तथा धर्म के रक्षण और प्रचार के लिए धन का आश्रय लेना तो लगभग सार्वत्रिक नीति के रूप में प्रचलित है ही, धार्मिक संस्थाओं और धार्मिक संघटनों को सुचारु रूप से चलाने के लिए सम्पत्ति का उपार्जन और संचय करना भी पुण्यकार्य माना गया है। जिस समाज में संग्रह की अनुमति होती है, उस समाज में दान सबसे श्रेष्ठ धर्मकार्य माना जाता है और दानशील पुरुष सबसे बड़ा पुण्यात्मा समझा जाता है। धीरे-धीरे इस बात का विवेक नहीं रह जाता कि धनोपार्जन किन उपायों से होता है । कोई चाहे जिस ढंग से धन क्यों न कमाये, यदि वह दान के लिए उसका विनियोग करता है तो वह धार्मिक है, क्योंकि वह दानी है । धर्म का मूल दया भले ही हो, लेकिन धर्माचरण का बाह्य स्वरूप तो दान ही माना गया है । मंदिर, मस्जिद, गिरजे और अग्यारियाँ, इन

सबकी अन्तिम प्रतिष्ठा धनियों की दानवृत्ति है। इसीलिए जो क्रांतिकारी निजी सम्पत्ति और संग्रहशीलता का अन्त करना चाहते हैं, उन्होंने धर्म को धनिक सत्ता का आश्रित और अनुचर मानकर उसे अफीम की गोली कहा। आज हमारी धार्मिक संस्थाएँ दुकानदारी करती हैं, सूदखोरी करती हैं और क्या-क्या नहीं करतीं ? धर्मरक्षण और सम्प्रदाय प्रचार की धुन में अर्थशुद्धि की पर्वाह किसे होती है ?

धन और लाठी की मैत्री

जो बात धन के लिए लागू है, वही बाहुबल के लिए भी लागू है। दो सम्प्रदायों में या दो धर्मों में जब रगड़झगड़ या कलह होने लगता है तो दोनों तरफ के सम्प्रदायवादी और धर्मध्वजी व्यक्ति सम्प्रदायान्ध होकर सब प्रकार के साधन-विवेक को तिलांजलि दे देते हैं। दो सभ्य और इज्जतदार आदमी अपनी-अपनी आन की रक्षा के लिए जिस प्रकार धन और लाठी का खुलकर उपयोग करते हैं, उसी प्रकार दो सम्प्रदाय भी एक-दूसरे के खिलाफ, बिना रोकटोक द्रव्य और दण्ड का प्रयोग करते हैं । दो पुरुषों की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की प्रतियोगिता में जिस प्रकार अन्तिम सत्ता लाठी की होती है, उसी प्रकार साम्प्रदायिक और धार्मिक प्रतिष्ठाओं की प्रतियोगिता में भी अन्तिम सत्ता दण्डधारी की ही हो जाती है।

धर्म और संस्कृति को लाठी का आधार कब तक

इसका परिणाम यह होता है कि हर सम्प्रदाय के नेता तो एक बात करते हैं और उसके रक्षण की दुहाई देनेवाले उनके अनुयायी ठीक उससे उलटे काम करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि डण्डे का सहारा लिये बिना इन नेताओं का कोई गुजारा नहीं। फिर धर्मरक्षण के नाम पर अनियंत्रित डण्डाराज शुरू हो जाता है। राजनैतिक झगड़ों में डंडे का प्रयोग दल या गिरोह के लिए होता है। धार्मिक और साम्प्रदायिक क्षेत्र में साम्प्रदायिक और धार्मिक गुण्डापन जोर पकड़ता है। व्यक्तिगत हिंसा और व्यक्तिगत कुटिल नीति निंद्य मानी जाती

है, लेकिन सामुदायिक हिंसा और राष्ट्रीय कुटिलता कर्तव्यरूप समझी जाती है। उसी प्रकार साम्प्रदायिक गुण्डापन पुण्यकर्म और कर्तव्यरूप समझा जाता है। धार्मिक और साम्प्रदायिक दंगों के बाद इस तरह का गुण्डापन करनेवालों को धर्मरक्षक और धर्मवीर की उपाधियों से विभूषित किया जाता है और सभ्य तथा शान्तिप्रिय नागरिकों की अपेक्षा समाज में उनका अधिक गौरव होता है। जब तक धर्म और संस्कृति लाठी के मुहताज रहेंगे, तब तक इस परिस्थिति में कोई परिवर्तन होनेवाला नहीं है।

७-६-१९५०

४. जनतंत्र की शुद्धता के लिए

मतदाता का प्रत्येक को अभिवचन

पिछले अंक में कांग्रेस की प्राथमिक पंचायतों के चुनाव के बारे में कुछ विचार प्रकट किये। उसके बाद कांग्रेस प्रतिनिधियों के चुनाव हुए। उन चुनावों में जो गुल खिले, उनको देखकर मन में उथल-पुथल मच गयी। जिन क्षेत्रों में एक से अधिक उम्मीदवार खड़े थे, वहाँ पर एक विचित्र घटना देखने में आयी । हरएक उम्मीदवार निश्चित रूप से यह समझता था कि चुनाव में उसकी सफलता होगी। यह यदि केवल आशानिष्ठा का परिणाम होता, या हरएक के आत्मविश्वास का परिणाम होता, अथवा हरएक के अपने निर्वाचन क्षेत्र के प्रति श्रद्धा का परिणाम होता तो उसमें किसी प्रकार की बुराई नहीं थी, बल्कि लोकनिष्ठा की दृष्टि से यह एक अच्छी चीज समझी जाती। लेकिन दरअसल बात ऐसी नहीं थी। हर क्षेत्र में मतदाताओं की संख्या बहुत ही छोटी थी। कहीं-कहीं अधिक से अधिक सवा सौ-डेढ़ सौ मतदाता थे। हरएक उम्मीदवार उनमें से हरएक से मिल आया था और हर उम्मीदवार ने हर मतदाता से अभिवचन ले लिया था। प्रत्येक उम्मीदवार को मतदाताओं की खासी संख्या ने अभिवचन दे दिया था। अर्थात् हरएक की आशा का आधार ठोस संख्याबल था। वह कोई हवाई किले नहीं बना रहा था।

कौन झूठ, कौन सच

मान लीजिये कि एक क्षेत्र में साठ मतदाता हैं और दो उम्मीदवार हैं । हरएक अपने-अपने भरोसे के आदमियों से मिलता है और उनसे अभिवचन लेता है। एक कदम आगे बढ़कर दस्तखत भी ले लेता है। दूसरा उम्मीदवार भी अपने भरोसे के आदमियों से मिलकर अभिवचन ले लेता है। कुछ कम पढ़ा-लिखा होने के कारण हस्ताक्षर के बदले वह उनसे सौगन्ध लिवाता है। गंगाजल हाथ में लेकर वे मतदाता भी शपथपूर्वक उसे अभिवचन दे

दैते हैं। हरएक उम्मीदवार कहता है कि मेरे ३२ आदमी पक्के हैं । उन्होंने कसम खा ली, मैं किसी तरह हार नहीं सकता । इसका मतलब यह हुआ कि इन तीस आदमियों में से कुछ झूठे हैं या सभी झूठे हैं।

यह बात केवल एक-दो जगह नहीं हुई है, करीब-करीब सब जगह हुई है और आगे चलकर इससे अधिक बड़े पैमाने पर होती रहेगी। यदि हम इस देश में जनतंत्र की पथ्यकारक परिपाटियाँ कायम करना चाहते हैं तो हमें इस अवस्था का कोई न कोई उपाय अवश्य करना चाहिए।

यश और सत्ता की लालसा

इस अनवस्था का मूलभूत कारण यह है कि जो उम्मीदवार होता है, उसको जनतंत्र की शुद्धता की अपेक्षा सफलता की फिकर ज्यादा होती है और सेवा की अपेक्षा सत्ता अधिक प्यारी होती है। अगर लोग दरअसल उसे चाहते हों तो उनकी खुशामद करने की जरूरत उसे क्यों होनी चाहिए ? सच तो यह है कि लोग किसी को नहीं चाहते । वे जिस मनोवृत्ति से अदालत में गवाही देने जाते हैं, उसी मनोवृत्ति से चुनाव में वोट डालने जाते हैं । वे समझते हैं कि हम इस उम्मीदवार पर मेहरबानी करने जा रहे हैं । अदालत में जब कोई शख्स गवाही देने जाता है तो ईश्वर-स्मरणपूर्वक हलफ पढ़ता है और उसके बाद बड़ी पवित्र भावना से झूठी गवाही दे देता है। यह समझ कर सन्तोष मान लेता है कि मैंने जिसके पक्ष में गवाही दी है, उसका बहुत बड़ा उपकार किया है । इस उपकार-शीलता की भावना से उसकी धार्मिक आत्मा को बड़ा सन्तोष मिलता है।

जेल-जीवन की कपट-नीति का परिणाम

परोपकार के लिए झूठ बोलना, चोरी करना, साजिशें करना और षड्यन्त्र रचना नीतिमान् और सम्भावित लोग दूसरों को सिखाते हैं। हम जब जेलों में थे, तो वहाँ के चौर्य-

चतुर और चलते-पुर्जे कैदियों का उपयोग गैरकानूनी चीजें मँगाने के लिए और गैर-कानूनी चिद्ठियाँ बाहर भेजने के लिए बड़ी पुण्य-भावना से कर लिया करते थे । उन्हीं कैदियों का उपयोग उतनी ही कर्तव्य-भावना से हमारे खिलाफ जेल के अधिकारी कर लिया करते थे। सत्य और अहिंसा का आन्दोलन चलाने के लिए हमने बिना हिचक के असत्य और कपट का प्रयोग किया।

तथाकथित अहिंसकों का छलबल-प्रेम

हम जब अपनी अहिंसा की नीति समझाने के लिए सार्वजनिक सभाएँ कराते थे तो कई बार हमारे कुछ प्रतिपक्षी हमारी सभाओं में आकर टंटाबखेड़ा किया करते थे। अपनी अहिंसा-प्रचार की सभा में शान्ति रखने के लिए हम उन्हींकी टक्कर के दूसरे टंटाखोर और उप्रद्रव-कुशल व्यक्तियों का उपयोग बड़ी कर्तव्य-भावना से कर लिया करते थे। इन उपद्रवप्रवीण व्यक्तियों ने हमारा पानी देख लिया। उनको यह अनुभव हो गया कि आखिर सज्जनता, शिष्टता और अहिंसा को भी असत्य और छल-बल की पनाह लेनी पड़ती है। दोनों तरफ के लोग जब उपद्रवकारियों की ही शरण लेते हैं, तो रुतबा उपद्रवकारिता का बढ़ता है, सचाई और प्रामाणिकता का नहीं ।

लोगों को झूठी गवाही देने के लिए मना करके हम उन्हें झूठी शपथ लेना सिखाते हैं । केवल झूठ बोलना ही नहीं सिखाते, व्यवस्थापूर्वक और पद्धतिपूर्वक झूठ बोलना सिखाते हैं । फलत: झूठी गवाह देना एक रोजगार बन जाता है, एक फन बन जाता है। उसे कला का, हुनर का रूप प्राप्त हो जाता है। फिर उसमें जो माहित होते हैं, वे अपनी कुशलता पर गुमान करने लगते हैं ।

हमारी करनी का नतीजा

१९३७ में जब कांग्रेस चुनाव के मैदान में उतरी तो उसके उम्मीदवारों के खिलाफ बड़े-बड़े धनपति और सत्ताधारी व्यक्ति खड़े हुए। उनके सामने उनको राय देने से इन्कार करना मतदाताओं के लिए करीब-करीब असंभव-सा था। मुरव्वत, लिहाज और डर के कारण वे दब जाते थे। इसलिए हम लोगों ने मतदाताओं को यह सिखाया कि तुम उनके सामने हाँ भर दो। उनकी मोटर में बैठकर भी चले जाओ; उनके आदमियों से मतपत्रिका ले लो, लेकिन उसे कांग्रेस की सन्दूक में डाल दो। वहाँ तुम्हें कोई देखने नहीं आयेगा। बहुत-से भोलेभाले मतदाताओं ने सन्दूकों को हाथ जोड़कर बड़ी पुण्यभावना से इस असत्य का आश्रय करके कांग्रेस के उम्मीदवारों को मतदान किया । अब कांग्रेस के अन्तर्गत चुनावों में भी उसे शिष्टसम्मत नीति का अनुसरण हो रहा है।

जिनका शान्ति में विश्वास है, वे भी अगर शान्ति की स्थापना के लिए युद्ध के ही मार्ग का अवलम्बन करते रहेंगे तो अयुद्ध की नीति का अनुसरण कौन करेगा ? जो लोग लोक-जीवन में सचाई और ईमानदारी का बीजारोपण करना चाहते हैं, वे भी अगर असत्य और कपट-नीति का आश्रय करने लगे तो हमारे सामाजिक और नागरिक जीवन में सत्य और शान्ति की प्राणप्रतिष्ठा करने की आशा को 'जय राजजी' की ही करनी पड़ेगी।

हमको पद्धति बदलनी होगी

अपने अनुचित प्रभाव से या मित्रों के दबाव के प्रयोग से मतदाताओं से अभिवचन, शपथ या हस्ताक्षर करा लेने की हानिकारक नीति के ही ये सारे दुष्परिणाम हैं। इस नीति से साधारण जनता को हम बुद्धिपूर्वक असत्याचरण का पाठ देते हैं और उसका अभ्यास कराते हैं, इसलिए अब हमको मत-याचना की इस अवांछनीय पद्धति का निश्चयपूर्वक त्याग कर देना चाहिए। हरएक व्यक्ति के पास जा-जाकर विनय-अनुनय से डरा-धमकाकर,

लोभ-लालच दिखाकर या अन्य प्रकार से वजन डालकर मत-याचना करने की रीति को याने कैनवासिंग को सर्वथा वर्ज्य समझ लेना चाहिए । इस प्रथा के कारण एक सार्वत्रिक अविश्वास का वातावरण पैदा हो गया है । मित्र-मित्र का, एक दल का आदमी अपने साथी का भरोसा नहीं कर सकता । इसलिए उम्मीदवार और उनके सहायक तरह-तरह की तरकीबें काम में लाते हैं । वे मतदाताओं को घेर-घेर कर लाते हैं, सख्त निगरानी में रखते हैं, उन्हें प्रलोभनादि देते हैं और इतना सब करने पर भी उनका पूरा-पूरा भरोसा नहीं कर सकते।

यदि हम इस देश में जनंतंत्र की स्वास्थ्यपूर्ण और उन्नतिकारक परम्परा का उपक्रम करना चाहते हैं, तो हमें दृढ़तापूर्वक और निग्रह पूर्वक 'कैनवासिंग' की वर्तमान पद्धति का त्याग कर देना होगा।

७-७-१९५०

५. विधायक बुद्धि की चुनौती

युद्ध के बादल

संसार में अब तक जो जागतिक युद्ध हुए, उनकी उस जमाने के राजनेताओं ने और इतिहासज्ञों ने अपनी-अपनी दृष्टि से कारण—मीमांसा की । हमारे जमाने में दो महायुद्ध हुए और तीसरे महायुद्ध के बादल नित्य मँडराते रहते हैं । सारा वायुमंडल युद्ध की आशंका और आकांक्षा से इस कदर भरा हुआ है कि जरा-सी चिनगारी से भी संकुल युद्ध की ज्वालाएँ धधक उठने का डर हरएक शान्तिप्रिय नागरिक को लगता है।

भिन्न-भिन्न आदर्शों का जामा

पिछले दोनों महायुद्धों के वक्त हमने यह भी सुना कि वे राष्ट्रों-राष्ट्रों के युद्ध उतना नहीं थे, जितने कि भिन्न विचारधाराओं के युद्ध थे। यानी उस जमाने के विचारकों ने राष्ट्रीय कलह की अपेक्षा विचारों के संघर्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया। १९१४ की लड़ाई के वक्त हम लोग स्कूल में पढ़ते थे। इंग्लैंड जब मैदान में उतरा, उस वक्त सेनापति लॉर्ड रॉबर्ट्स ने एक सार्वजनिक निवेदन प्रकाशित किया : 'साम्राज्य के बालकों ! हम क्यों लड़ रहे हैं ? इसलिए कि इंग्लैण्ड छोटे-छोटे राष्ट्रों के साथ छेड़छाड़ सह नहीं सकता।' बात यहाँ से शुरू हुई। और जब बहुत आनाकानी करने के बाद अमेरिका मैदान में उतरा, तब अमेरिकन राष्ट्राध्यक्ष वुड्रो विलसन ने कहा कि हम यह युद्ध संसार को जनतंत्र के लिए सुरक्षित बनाने के उद्देश्य से कर रहे हैं। उसके बाद वुड्रो विलसन के चौदह सिद्धान्त आये। शान्ति-परिषद आयी । राष्ट्रसंघ आया और आंतर्राष्ट्रीय अनुशासन की नींव रखी गयी । उस सारे किस्से को दोहराने की जरूरत नहीं । १९१८ में पहला जागतिक युद्ध बंद हुआ। हम यह तो नहीं कह सकते कि वह समाप्त हुआ। दूसरे महायुद्ध के बीज जमीन में भीतर ही भीतर अंकुरित होते रहे । १९३९ में दूसरा महायुद्ध आया। पहले महायुद्ध के बारे में यह कहा गया कि वह

साम्राज्यवाद और लोकसत्तावाद के बीच का तुमुल और निर्णायक संघर्ष था। इस दूसरे महायुद्ध के बारे में यह कहा गया कि वह नागरिक स्वतंत्रता और अनियंत्रित अधिकारवाद या अधिनायकत्व के बीच का संघर्ष था। इंग्लैंड के प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल और अमरीका के राष्ट्राध्यक्ष फ्रैंकलिन रूजवेल्ट इस महायुद्ध के प्रमुख सूत्रधार थे । दोनों ने मिलकर एक संयुक्त घोषणापत्र अतलांतिक महासागर में से प्रकट किया। इस घोषणा में नागरिक की चार मूलभूत स्वतंत्रताओं पर मुख्य भार दिया गया। कुछ दिन के बाद रूस युद्ध में शामिल हुआ। साम्यवादी कहने लगे कि अब इस युद्ध का रूपांतर साम्राज्यवादी युद्ध से लोकयुद्ध में हो गया है । साम्यवादियों ने रूस की जनक्रान्ति को तलवार मान लिया है । ठीक उसी तरह, जिस तरह कि इस्लाम के अनुयायियों ने तुर्की की इस्लाम को समशेर माना था। उनकी निगाह में रूस श्रमजीवी जनता का नैहर है और जनक्रान्ति का आद्यपीठ है । इसलिए क्रान्ति के बारे में रूस की नीति और रूस का आचरण परम प्रमाण है।

पिछली लड़ाई का जिन्होंने विरोध किया, वे भी अधिनायकत्ववादी हिटलर-मुसोलिनी की अपेक्षा लोकसत्तावादी इंग्लैण्ड-अमेरिका को कम अधम समझते थे। उनके युद्ध-विरोध में भी इतना किन्तु परन्तु था। मतलब यह कि पिछला युद्ध पहले तो फासीवाद और नागरिक स्वतन्त्रता के बीच का संघर्ष समझा गया और बाद में वह लोकयुद्ध में परिणत हो गया।

विचार-मंथन के परिणाम

हर युद्ध के बाद एक विचार-मंथन शरू हो जाता है । पिछले महायुद्ध के बाद से अब यह विवाद शुरू हो गया है कि मार्क्सवाद सारे मानव-समाज में सुख-समृद्धि और समाधान लाने में कहाँ तक समर्थ होगा ? पहले महायुद्ध में इंग्लैंड, अमरीका आदि लोकसत्तावादी राष्ट्रों का एक गिरोह था और जर्मनी आदि दूसरे साम्राज्यवादी कहे जानेवाले राष्ट्रों का दूसरा

गिरोह था। उस युद्ध के बाद से ही जागतिक शांतता की स्थापना के लिए आयोजन शुरू हो गये। संसार को यंत्रवत् जड़ समझनेवाले वैज्ञानिकों के विचार को एक जबरदस्त धक्का पहुँचा और उसकी जगह द्वंद्वात्मक विकासवाद ने ले ली । यह मार्क्स का भौतिकवाद कहलाया । रूस की क्रान्ति के बाद सारे संसार में मार्क्सववादी विचार का दौरदौरा हुआ। आज भी उस विचार की सारी दुनिया में काफी धाक और प्रतिष्ठा है। लेकिन अब फिर तीसरे महायुद्ध की रणभेरियों की अस्पष्ट ध्वनि सुनाई देने लगी है। इसलिए फिर से लोग मार्क्सवाद का जनहित की दृष्टि से परीक्षण करने लगे हैं। कई मार्क्स विरोधी विचारकों का प्रादुर्भाव हो रहा है।

पुराना वाक्य है, वादे वादे जायते तत्त्वबोध: —वाद-विवाद में से सत्य का ज्ञान होता है । मार्क्सवादी परिभाषा में वाद और प्रतिवाद में से संवाद की उपलब्धि होती है। यह तत्त्व की बात है। लेकिन आज हम देखते हैं कि हमारा सारा बुद्धिवैभव और बुद्धिशक्ति शुष्क प्रतिवाद में ही अकारथ जा रही है। केवल प्रतिवाद में से तत्त्वनिष्पत्ति नहीं होती। सिर्फ प्रतिमार्क्सवाद में से हमारी बुद्धि में विधायक प्रतिभा जागृत नहीं होगी ।

निषेधक बुद्धि : शून्यवाद की जननी

अपनी बात को समझाने के लिए एक दृष्टांत देता हूँ। एक दफा अदालत में एक मुकदमा पेश हुआ। वादी ने यह आरोप किया कि प्रतिवादी को (१) मैंने एक हंडा उधार दिया। (२) जिस वक्त हंडा उधार दिया उस वक्त वह साबित था। (३) लेकिन जब प्रतिवादी ने वापस किया, उस वक्त वह फूटा हुआ पाया गया। इसलिए प्रतिवादी को हण्डे के दाम चुका देने चाहिए। इस पर प्रतिवादी ने जवाब दिया। उससे वकीलसाहब ने कह दिया था कि वादी के हर अभियोग के उत्तर में नकारात्मक जवाब दे देना, हर बात से मुकर जाना।

इसलिए प्रतिवादी ने अपनी सफाई देते हुए वादी की एक-एक बात का प्रतिवाद करना शुरू किया। उसने कहा—

(१) मैंने वादी से हंडा कभी लिया ही नहीं।

(२) जिस वक्त हंडा लिया, उस वक्त वह फूटा हुआ था।

(३) जब लौटाया उस वक्त साबित था। इसे कैटेगॉरिकल नेगेटिव-सीधा नकार कहते हैं । प्रतिवादी ने हर बात से इन्कार कर दिया। जवाब मुकम्मिल हो गया, चाहे माकूल हुआ हो या न हुआ हो । इस तरह की केवल प्रतिवादी-प्रतिभा मनुष्य को शुष्क पांडित्य और निष्फल शास्त्रार्थ की दलदल में फँसा देती है। इसलिए इस विषय में हमें काफी सावधान रहना चाहिए। हमारा काम यह नहीं है कि मार्क्सवाद की एक-एक बात को लेकर उसे काटते चले जायँ। इस प्रकार की केवल निषेधात्मक, केवल विदारक बुद्धिमत्ता हमको शून्यवाद की तरफ ले जायेगी।

गांधीवाद का अंगभूत गुण

इस देश के कई प्रतिभावान् विचारकों ने गांधी -विचार को भी एक प्रतिवाद के रूप में समझा है । इसलिए वे उसे मार्क्सवाद के मुकाबले में रख कर दोनों का सामना कराना चाहते हैं । या उन्हें आमने-सामने खड़ा करके उनका मिलान करने में लगे हैं । गांधी-विचार हमारे जमाने की परिस्थिति की प्रतिक्रिया के रूप में भले ही पैदा हुआ हो, लेकिन वह प्रतिवादात्मक नहीं है । किसीके खण्डन के लिए केवल प्रत्युत्तर के रूप में प्रवृत्त नहीं हुआ है। यही उसका अंगभूत गुण है।

संवादी प्रतिभा की खोज

मार्क्सवाद के समीक्षण और पुनःपरीक्षण की आवश्यकता सर्वमान्य है । लेकिन उसके ग्राह्यांश का संग्रह करना भी आवश्यक है । इसके लिए आवश्यकता केवल खंडनात्मक और निषेधात्मक बुद्धिवाद की नहीं, बल्कि विधायक और मंडनात्मक सिद्धान्तों की स्थापना की है । इस प्रकार के प्रतिभाशाली विचारक इस देश का महान् उपकार करेंगे। आज जो प्रचंड विचार-मंथन हो रहा है, उसमें से संवादी प्रतिभा का अनमोल रत्न यदि हाथ आ जावे तो मानवता कृतकृत्य होगी।

७-७-१९५०

६. रामराज्य के राम

गांधीजी के पर्याय

'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव द्वारा भारतीय जनता की ओर से महात्मा गांधी और कांग्रेस ने अंग्रेजों से भारत से चले जाने के लिए कहा। इस घोषणा के पीछे जो मनोभूमिका थी, उसकी आज याद आये बिना नहीं रहती । उस मनोभूमिका का सार-सर्वस्व अहिंसक प्रतिकार-प्रणाली के आद्य प्रवर्तक महात्मा गांधी ने ही अपनी अनुकरणीय शैली में, एक सूत्रात्मक वाक्य में ग्रथित किया है । गांधी ने कहा, "बराय मिहरबानी आप चले जाइये। हमें या तो भगवान् के भरोसे छोड़ जाइये, या अराजकात के ।" ईश्वर या अराजकता ये दो ही पर्याय गांधीजी जैसे दूरदर्शी आप्त को भी दिखायी दिये । लेकिन याद रहे, ये शब्द उन्होंने अंग्रेजों को लक्ष्य करके कहे थे। हमारे चले जाने पर हिन्दुस्तान में सब तरफ अंधेर-गर्दी होगी, ऐसे चेतावनी अंग्रेज मौके-बे-मौके देते रहते थे। उस वक्त के कई सयाने, सुजान, व्यवहारज्ञ लोगों का यह पक्का विश्वास था कि अंग्रेजी राज्य की बदौलत ही भारत में शान्ति और सुप्रबंध है । वह राज्य अगर कहीं ढीला या शिकस्त हो गया, तो इस देश में अराजकता फैल जायगी। किसीकी पनही किसीके पैर में नहीं रहेगी । इन लोगों ने गांधीजी को चेतावनी देना शुरू किया। उनके जवाब में गांधीजी ने कहा, 'इस श्मशान-शांतता की अपेक्षा अराजकता मुझे मंजूर है ।' लेकिन उन्होंने सिर्फ अकेली अराजकता का विकल्प नहीं बतलाया। ईश्वर या अराजकता, ऐसे दो विकल्प उन्होंने हमारे सामने रखे।

अभिप्रेत रामराज्य

"गुलामी से अराजकता बेहतर है और कायरता से हिंसा श्रेयस्कर है" गांधीजी के ये दो सूत्र सर्वश्रुत हैं । जब दो अप्रशस्त या निषिद्ध विकल्प बिलकुल अगतिक रूप से प्राप्त होते हैं, तो उसमें से जो विकल्प कम बुरा या कम निषिद्ध हो, उसे चुनना पड़ता है। कायरता

से हिंसा अच्छी कहने में हिंसा की सिफारिश नहीं है। तारीफ तो है ही नहीं । उसमें इतना ही सुझाया गया है कि एक अधिक निषिद्ध विकल्प की अपेक्षा हिंसा का आश्रय करना कम हानिकर है। भीरुता और हींस्त्रता में चाहे भेद भले ही हो, लेकिन विरोध नहीं है। किन्तु अनवस्था या अराजकता और ईश्वर में जमीन-आसमान का विरोध है। ईश्वर का राज भाईचारे की स्थिति है । मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रभुत्व-निरपेक्ष शोषणहीन सहजीवन की वृत्ति का वातावरण ही स्वर्ग का साम्राज्य है । यही भगवद्गीताकी दैवी सम्पत्ति है, यही गांधीजी का अभिप्रेत रामराज्य है ।

रामराज्य में राज्य की अपेक्षा राम का महत्त्व अधिके है। राम, राज्य का सत्त्व है, उसका प्राणतत्त्व है, उसकी आत्मा है—'राम' शब्द इसी अर्थ में भारत की सभी भाषाओं में रूढ़ है। किसी भी व्यवस्था में रामत्व का उत्कर्ष इस अंश में होता है, उस अंश में राज्यत्व कम होता चला जाता है। रामत्व जब वातावरण में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाता है, तब उसमें राज्यसंस्था विलीन हो जाती है। राम में राज्य के विलीन हो जाने पर जो अवस्था प्राप्त होती है, वह अराजक नहीं है। जिसमें सत्ता की प्रतिनिधिभूत संस्था का प्रयोजन नहीं रह गया है, लेकिन शान्ति है, सुव्यवस्था है और सुख है, वह राम का राज्य है, वह ईश्वर का अधिराज्य है। भारतीय जनता की ओर से गांधीजी ने जब अंग्रेजों से निश्चयपूर्वक कहा कि हमें भगवान् के भरोसे छोड़ कर जाओ या अराजकता के भरोसे छोड़ कर जाओ, तब उन्होंने अपनी भगवान् के प्रति निष्ठा का संकल्प और अराजकता का प्रतिकार करने का भी संकल्प प्रकट किया।

संयोग नहीं था

परमात्मा की कृपा से तथी जागतिक घटनाओं के अकल्पित संयोग से और हमारे थोड़े-बहुत पराक्रम से ता. १५ अगस्त, १९४७ को इस देश में से अंग्रेजी सत्ता का विसर्जन

हुआ। दैवं चैवात्र पंचमम्—भगवद्गीता के अनुसार हरएक क्रिया में दैव पाँचवाँ निर्णायक तत्त्व होता है। हमारे विषय में वही सबसे प्रबल सिद्ध हुआ। अंग्रेजी राज आया, उस वक्त इस देश में पराक्रम की कमी नहीं थी, बुद्धिमत्ता का अभाव नहीं था। कष्ट सहन करने की शक्ति भी कुछ कम नहीं थी । बल्कि हमने स्वयं अपनी हानि कर लेने के लिए इन गुणों का प्रयोग किया । विनाश-काल आने पर बुद्धि की गति उलटी हो जाती है। हमारी गति औंधी होती है। न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडे ने कहा था कि 'अंग्रेजी-राज विधाता का विधान है।' लोगों ने उनकी आलोचना की, उनका मजाक किया, लेकिन कुछ भिन्न भूमिका पर से और भिन्न उद्देश्य से वही बात नवराष्ट्रवाद के एक प्रणेता अरविंदबाबू ने दूसरी भाषा में कही । उन्होंने कहा कि 'यह संसार विधिसूत्र से बँधा हुआ है। इसमें आकस्मिक घटना जैसी कोई वस्तु है ही नहीं । सारा जंगत् कार्यकारण-भाव से सम्बद्ध है।' अरविंदबाबू का अभिप्राय यह था कि भारत की गुलामी भी विधाता की योजना के अनुसार ही आयी थी, केवल संयोगवश नहीं ।

भगवान् की योजना

भारत की गुलामी का जब अन्त हुआ, उस वक्त हमारे पास शस्त्रास्त्र नहीं थे। बुद्धिमत्ता तो थी, परन्तु विज्ञान की सामर्थ्य नहीं था। किन्तु बलिदान और अहिंसक प्रतिकार की एक नयी सामर्थ्य और कला हमने प्राप्त कर ली थी। इसलिए परम्परागत, आवश्यक ऐतिहासिक साधनों का अभाव होने पर भी परिस्थिति से लाभ उठाने की शक्ति हमारे भीतर पैदा हो गयी। 'परिस्थिति से लाभ उठाने की शक्ति' शब्दों का प्रयोग मैंने विचारपूर्वक किया है । जागतिक घटनाओं के संयोग से अनुकूल परिस्थिति भले ही प्राप्त हो जावे, फिर भी उस परिस्थिति से लाभ उठाने की पात्रता आवश्यक होती है। केवल अर्थित्व या केवल सामर्थ्य पर्याप्त नहीं है। इच्छा और पात्रता के समुच्च्य से अधिकार सिद्ध होता है, लेकिन इच्छा और पात्रता को वातावरण की अनुकूलता की भी जरूरत होती है। इस अनुकूलता

का ही नाम परिपक्व परिस्थिति, उचित ऐतिहासिक क्षण है। यह जो उचित घड़ी का तत्त्व है अथवा सुयोग का तत्त्व है, वही भगवद्गीता का पाँचवाँ तत्त्व है। ता. १५ अगस्त, १९४७ को इस पंचम तत्त्व का योग महात्मा गांधी की पुण्यायी और पराक्रम के साथ हुआ, इसीलिए हम पारतन्त्रय विसर्जन का अपूर्व महोत्सव मना सके। कहने का कारण यह कि अंग्रेजी राज्य के अन्तिम प्रतिनिधि लॉर्ड माउण्टबेटन ने ही ब्रिटिश सत्ता के विसर्जन का और भारतीय सत्ता के आवाहन का संकल्प विधिपूर्वक सम्पन्न किया। १५ अगस्त के समारोह की यह विशेषता संसार के इतिहास में अनन्य-साधारण है। जिस पद्धति से और जिस प्रक्रिया से हमारी परतन्त्रता का विसर्जन सम्पन्न हुआ, उस पद्धति की और प्रक्रिया की यह महिमा है। एक राज्य गया, दूसरा राज्य आया, लेकिन कोई जीता नहीं, कोई हारा नहीं । इसलिए यह कहने में कोई भी हर्ज नहीं कि भारतीय परतन्त्रता का विसर्जन और भारतीय लोकसत्ता की स्थापना, ये दोनों विधियाँ भगवान् की योजना के अनुसार ही सम्पन्न हुईं।

दो ही विकल्प

भारतीय स्वतन्त्रता के कारीगर ने जब देखा कि जब दूसरा कोई चारा नहीं रह गया है, तब उसने ईश्वर या अराजकता का नारा बुलन्द किया । उनका अभिप्राय यह था कि हम भगवान् के अधिष्ठान का निर्माण करने की चेष्टा करेंगे और यदि हमारे प्रयत्न पर्याप्त सिद्ध न हुए तो अराजकता का निर्माण कदापि नहीं करेंगे। जितनी दृढ़ता से और विधिपूर्वक गुलामी का प्रतिकार किया, उतनी ही दृढ़ता और निश्चय के साथ अराजकता का प्रतिकार भी करते रहेंगे। यह प्रतिकार सुबुद्धता से, व्यवस्थित रूप से और अनुशासन से करेंगे । प्रयत्न ईश्वर के मार्ग पर चलने का रहेगा और प्रतिकार अराजकता का। हमारे राष्ट्रपिता के दिये हुए सूत्र का यह रहस्य है। ईश्वर या हरबोंग, ये दो ही विकल्प हैं। हमारे कदम किस दिशा की तरफ मुड़ते हैं, जाने-अनजाने किस दिशा में पड़ने लगे हैं, इसका विचार करने का अवसर आज आ गया है।

अनुशासनहीन राज याने अन्धेर-उपद्रव की सत्ता

असहयोग और सविनय कानून-भंग, ये दो अहिंसक प्रतिकार के साधन सान पर चढ़ा कर और साफ करके हमारे राष्ट्रपिता ने हमें विरासत में दिये हैं। असहयोग के साथ अहिंसात्मक, और कानून-भंग के साथ सविनय, ये दो विशेषण जोड़ने पर वे बहुत बड़ा जोर दिया करते थे। असहयोग में से कहीं व्यवच्छेदकता, मनुष्य से परहेज करने की वृत्ति, आदमी को दुरदुराने की भावना पैदा न हो, इसलिए उन्होंने उसे अहिंसक विशेषण से मर्यादित किया और कानूनभंग में से उद्दंडता, उच्छृंखलता तथा कायदे-कानून के लिए अनादर की वृत्ति पैदा न हो, इसलिए उन्होंने आग्रह पूर्वक उसे सविनय विशेषण से मर्यादित किया । उनका उद्देश्य यह था कि किसी विशिष्ट-कानून के प्रतिकार में से सार्वत्रिक अनवस्था पैदा न होने पाये । यज्ञ का हव्यन्वाहन (अग्नि) सतत जागृत रखने के लिए उन्होंने हमें एक निरन्तर दीप्तिमान समिधा दी। हमने उसे अपने अद्भुत कौशल से जलती हुई लुकाटी में परिणत करने का मानो बीड़ा उठाया है । सत्याग्रह में अन्तर्भूत होनेवाले प्रतिकार के सारे साधन स्नेहशीला माता के, वात्सल्यवान पिता के, प्रेमी सुहद के और दुलारे पुत्र के खिलाफ भी बरते जा सकते हैं । विशेष अवसर पर उनका प्रयोग कर्तव्य-रूप हो जाता है। हमने स्नेहाशील, वात्सल्यवान, प्रेमी और दुलारे आदि विशेषणों को और उनमें भरी हुई भावना को प्रयत्नपूर्वक तथा बुद्धिपूर्वक तिलांजलि दे दी और गांधी-प्रणीत साधन को अपनी-अपनी भूमिका पर से अपने-अपने मतलब की सिद्धि के लिए बेधड़क काम में लाने लगे। परिणाम यह हुआ कि लोक-निर्वाचित संस्थाओं के प्रतिनिधियों के निर्णय के विरुद्ध चाहे जब, चाहे जितने और चाहे जैसे प्रतिकार के साधन काम में लाने लगे । ये प्रतिकार, चाहे शस्त्रास्त्रों के तथा मार-काट के भले ही न हों, फिर भी वे अहिंसक हरगिज नहीं हैं । उनके प्रयोग से शासन नष्ट हो जायगा, लेकिन अनुशासन पैदा नहीं होगा। राष्ट्र, शासन से छुटकारा पायेगा, लेकिन अनुशासन से भी वंचित रहेगा। नतीजा हरबोंग का राज होगा।

भगवान् से भी असहयोग

जिसके मन में कानून के लिए अधिक से अधिक आदर हो, वही कानून-भंग का अधिकारी है, यह कानून-भंग के प्रयोग की पहली शर्त है। जिसके मन में प्रतिपक्षी के लिए भरपूर सद्भाव हो, वही उपवास के प्रयोग का अधिकारी है। अहिंसात्मक साधनों की सामर्थ्य उनके अधिष्ठान पर निर्भर है, इसीलिए भगवद्गीता में कार्यसिद्धि का पहला तत्त्व अधिष्ठान बतलाया है। प्रतिकार का प्रयोग जब विनय और सद्भावना के अधिष्ठान पर स्थित होता है, तभी उसमें से अनुशासन पैदा होता है, अनुशासन जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, शासन कम होता जाता है । अनुशासन की परिसीमा ही शासन का विसर्जन है । थोरो ने कहा, "जो राज्य कम से कम शासन करता है, वही सबसे उत्तम राज्य है।" हमारे देश में भी शासन का विध्वंस करने के प्रयत्न जान-बूझ कर या अनजाने, लेकिन बहुत बड़े पैमाने पर शुरू हो गये हैं। ईश्वर की तरफ से मुँह-मोड़ कर हमने अराजकता का आश्रय करने की ठान ली है । हम भगवान् से मानो यह क्रियात्मक प्रार्थना कर रहे हैं कि वे अपना वैकुण्ठ का सिंहासन छोड़कर इस भू-लोक पर आने का कष्ट करें।

आज का यक्ष-प्रश्न

हमारे राष्ट्रीय जीवन में ईश्वर या अराजकता का प्रश्न इतना वास्तविक पहले कभी नहीं था, जितना कि आज है। आज यह प्रश्न जीने-मरने का प्रश्न है। राजनीति का, समयज्ञता का और व्यवहार-कुशलता का भी यही सबसे बड़ा प्रश्न है। महाभारत में यक्ष ने पाँचों पांडवों से प्रश्न पूछ कर कहा कि जो इन प्रश्नों का उत्तर दे सकेगा, वह जियेगा। जो नहीं दे सकेगा, वह प्राणों से हाथ धो बैठेगा। अद्भुत पराक्रमी चारों पांडव खेत हो गये। मर्यादावान विनयमूर्ति धर्मराज ही अकेला सुरक्षित रहा । ईश्वर या अराजक, यह हमारे राष्ट्र का यक्षप्रश्न है। गांधीजी के रामराज्य में ईश्वर-निष्ठा ही प्राणभूत तत्त्व है, वही उसका राम है । गांधीजी राजनीति में

रामनाम लाये। पुराने जमाने के राजनेता मंदिर में दरबार ले गये। गांधीजी दरबार में भगवान् को लाये। ब्रिटिश सत्ता गयी, राज भी गया। अब ईश्वर या अराजकता अनिष्ट है, अशुभ है, अवनतिकारक है, यह भी स्पष्ट है, तो फिर रहा ईश्वर ही। वही हमारी एकमात्र पनाह है, वही शरण्य है। आज भी परिस्थिति में वही हमारी व्यावहारिक और राजनैतिक आवश्यकता है। उसके बिना रामराज्य से राम ही गायब रहेंगे।

सितंबर, १९५०

७. हरएक का अपना-अपना राज

निर्वाचन-क्षेत्र का नक्शा

आगामी चुनाव के लिए निर्वाचन-क्षेत्र निर्धारित करने के लिए एक समिति बनी है। उसके सामने कई संस्थाओं ने और व्यक्तियों ने अपने-अपने निवेदन पेश किये हैं। हरएक अपने विशिष्ट स्वार्थ की रक्षा के लिए प्रयत्नशील है। निर्वाचन-क्षेत्र सिर्फ निर्वाचन की सुविधा के लिए नहीं, बल्कि राजसत्ता के बँटवारे के लिए है, ऐसी हरएक राजनेता की और राजनीतिज्ञ की दृढ़ धारणा है। बँटेवारे की मनोवृत्ति की यह विशेषता होती है कि उसमें हरएक अपने लिए राज्यसत्ता का बड़े से बड़ा टुकड़ा प्राप्त करने में अपना सारा युक्तिकौशल्य खर्च करता है। इस दृष्टि से हरएक ने अपने-अपने निर्वाचन-क्षेत्र का नक्शा तैयार किया है। उसे बनाने की विधि इस प्रकार है :

“जनतंत्र का मध्यबिंदु, उसका केन्द्र-पुरुष मैं हूँ और मेरे साझेदार मेरे राजनैतिक सहयोगी हैं । इसलिए निर्वाचन-क्षेत्र ऐसे बनने चाहिए, जिससे मैं और मेरे साथी अधिक से अधिक आसानी से चुने जा सकें । इसके साथ-साथ यह भी नितान्त आवश्यक है कि मेरे वैरियों के दाँत खट्टे हों । इसलिए निर्वाचन-क्षेत्रों के बनाने में अगर मैं अपनी सुविधा का प्रबन्ध न कर सकूँ तो कम से कम मुझे अपने प्रतिपक्षियों की असुविधा का अधिक से अधिक आयोजन अवश्य करना चाहिए। यही राजनीति पढ़ना है।"

पराक्रम की परिधि

केन्द्र में व्यक्ति रखकर उसके आस-पास सत्ता की एक परिधि का निर्माण करने की चेष्टा हरएक करना चाहता है । कोई चाहता है कि अधिक से अधिक सुलभ और सुभीते का क्षेत्र मिले। कोई चाहता है कि मेरी जाति या संप्रदाय को अधिक से अधिक जगहें मिलें और तीसरा चाहता है कि मेरी भाषा को अधिक से अधिक सत्ताक्षेत्र और अधिक से अधिक

प्रतिनिधित्व मिले । अपने-अपने परिमित हित की रक्षा को ही हरएक ने राजनैतिक पुरुषार्थ मान लिया है। राज्यतृष्णा नाना प्रकार के मायावी रूप लेकर व्यवच्छेदक और अलगपन की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन दे रही है । निर्वाचन-क्षेत्रों के विभाजन के लिए सरकार ने कुछ सिद्धांत निर्दिष्ट कर दिये हैं, लेकिन राज्यतृष्णा और भोगाकांक्षा न लज्जा जानती है और न भय । उसे सबके सम्मिलित और व्यापक हित से कोई मतलब नहीं । इस दृष्टि से आज हरएक राजनैतिक नेता अपने-अपने क्षेत्र में कोशिश कर रहा है। पुराने जमाने में हरएक अमीर-उमरा, सरदार और सामन्त पहले तो सिर्फ सरमायादार रहता था, फिर अपनी सत्ता का क्षेत्र येनकेन-प्रकारेण बढ़ा कर, मांडलिक राजा बन जाता था और अंत में अपना एक स्वतंत्र राज्य बना लेता था। उसके पराक्रम की यही पहचान होती थी ।

जनतंत्र संयुक्त-तंत्र है

जनतात्मा के अनन्य उपासक लोकमान्य तिलक के विषय में मा. गोखले ने एक दफा कहा था कि तिलक अगर दूसरे देश में और दूसरी परिस्थिति में पैदा हुए होते तो अपने लिए एक राज्य जीत लेते । परंतु इतने पराक्रमशाली लोकमान्य ने अपने पुरुषार्थ का विनियोग राज्यतृष्णा की तृप्ति के लिए कभी नहीं किया । उनका स्वराज्य अपना निजी व्यक्तिगत राज्य नहीं था; वह लोकराज्य था। गांधीजी ने तो उनके विषय में यहाँ तक लिख डाला था कि बहुमत की सत्ता में तिलक का विश्वास देख कर मैं तो घबड़ा जाता था। तिलक जनतात्मा के अनन्य उपासक थे, इसलिए उन्होंने अपने लिए राज्य कमाने की कामना कभी नहीं की । परंतु आज बहुतेरे लोक प्रतिनिधि-निर्वाचन-क्षेत्रों के रूप में अपना एक छोटा-सा राज्य कायम करना चाहते हैं, इसलिए बँटवारे की मनोवृत्ति का दौरदौरा है । अखिल राष्ट्र के या सामान्य जनता के हित की किसीको फिक्र नहीं है। जब तक अंग्रेज था, हम सब एक थे। "यूयं वयं, वयं यूयं इत्यासीन्मतिरावयो:'—हमारी ऐसी मति थी कि तुम हम हैं और हम तुम हो। लेकिन अब राज्य तृष्णा का नशा हमें चढ़ गया है। हम पर बंटवारे की धुन

सवार है। नतीजा यह है कि यूयं युयम् हो गये और वयं वयम् रह गये हैं। तुम तुम हो और हम हम हैं। परिणाम है—मैं-मैं, तू-तू। जनतंत्र मेरा या तेरा तंत्र नहीं है, वह हमारा या तुम्हारा तंत्र भी नहीं है। वह हमारा और तुम्हारा संयुक्त-तंत्र है, अर्थात् अपना तंत्र है।

सत्ता की प्रतिस्पर्धा

बँटवारे की मनोवृत्ति जिले-जिले को और तहसील-तहसील को एक-दूसरे का प्रतिस्पर्धी बना रही है। भगवान् जाने, यह सिलसिला कहाँ जाकर रुकेगा ! इसलिए जो दूरदर्शी और समझदार व्यक्ति हैं, उन्हें सांप्रदायिक, भाषिक या प्रांतिक स्वार्थों का विचार छोड़ कर सबके सम्मिलित हित की दृष्टि से निर्वाचन-क्षेत्र निर्धारित करने चाहिए। इसीमें सबकी कुशल है, सबकी उन्नति है और जनतंत्र का अभ्युदय है।

राज्यतृष्णा की मायाविनी

जनतंत्र का ऊँट किस करवट बैठेगा

राज्यतृष्णा-रूपी यह मायाविनी जनपरिगणन के क्षेत्र में-मर्दुमशुमारी के मैदान में भी अपने करतब दिखा रही है। इधर संविधान की एक धारा ने अस्पृश्यता को गुनाह करार दिया है और यह कोशिश हो रही है कि जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी अस्पृश्यता बिलकुल नष्ट हो जाय। इसका मतलब यह हुआ कि इस देश में एक भी व्यक्ति अस्पृश्य नहीं रहना चाहिए। एक तरफ तो यह संकल्प और प्रयत्न है, और दूसरी तरफ यह चेष्टा हो रही है कि हर चुनाव-क्षेत्र में अस्पृश्यों की संख्या अधिक से अधिक रहे। एक ओर जात-पाँत का नाश करने की करारी प्रतिज्ञाएँ हो रही हैं और दूसरी तरफ यह बतलाने की कोशिश हो रही है कि हमारी जाति की संख्या सबसे बड़ी है। भाषावादी अपने-अपने भाषाभाषियों की संख्या अधिक से अधिक बतलाने की कोशिश कर रहे हैं। यही भी सत्ता के विभाजन की मनोवृत्ति का परिपाक है। हरएक जाति, संप्रदाय, भाषा अपनी संख्या बढ़ा-

बढ़ा कर और फुला-फुला कर बतलाने की होड़ में उतरी हैं । क्या भारतवर्ष का जनतंत्र गुब्बारों की नुमाइश होगा ? या इन राजनीतिक कुप्पों का प्रदर्शन होगा ? यह सवाल चित्त को व्याकुल किये बिना नहीं रहता। जनगणना एक आवश्यक और पवित्र राष्ट्रीय कर्तव्य है। उसमें प्रामाणिकता और अचूकता की सबसे बड़ी आवश्यकता है। लेकिन हमारा जनतंत्र तो मनुष्य की सत्ता नहीं है। वह तो संख्या का अधिराज्य है। इसलिए हरएक को संख्योन्माद ने पछाड़ा है। सत्ता के बँटवारे की खब्त आज हम सब पर सवार है। जनसंख्या का लेखा भी ठीक-ठीक, अचूक और प्रामाणिक बनाने की परवाह किसीको नहीं है। सत्तावाद का नग्ननृत्य अगर इसी तरह हमारे राष्ट्रीय व्यवहार के हर क्षेत्र में चलता रहा, तब तो हमारे जनतंत्र को भगवान् ही बचावे।

२७-१०-१९५०

८. सार्वत्रिक संकल्प की सामर्थ्य

जनता की बेचैनी

पिछले महीने में मुझे प्रसंगवश मध्यप्रदेश, बीकानेर-राज्य, पूर्व पंजाब, महाराष्ट्र और मराठवाड़ा (हैदराबाद राज्य) जैसे विभिन्न और दूर-दूर बसे हुए प्रदेशों में जाने का मौका मिला। पढ़े-लिखे लोगों और अपढ़ जनता के साथ थोड़ा-बहुत सम्पर्क हुआ। सब तरफ एक तरह का तीव्र असंतोष, प्रक्षोभ और उद्वेग का वातावरण दिखाई दिया। लोग दुःखी हैं, संतप्त हैं और बेचैन हैं । कांग्रेस के राज से उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। सारी आशाओं पर पानी फिर गया। मानो 'बागुड़े ही खेत खाने लगी।' सब तरफ लोग बड़ी उत्कंठा से नये चुनावों की आशा लगा कर बैठे थे। अब चुनाव भी मुल्तवी कर दिये गये। लोगों की झुंझलाहट का रूपांतर क्रोध की ज्वाला में हो गया।

यह प्रतिक्रिया बिलकुल स्वाभाविक है। लेकिन इतना मंजूर कर लेने से काम नहीं चलता। किसी प्रश्न के विषय में यह कह देना कि वह स्वाभाविक रूप से उपस्थित हुआ है, उसे हल करना नहीं है। वर्तमान असन्तोष, क्षोभ और अस्वस्थता के निवारण का उपाय सोचना भी उतना ही आवश्यक है।

बीमारी की-सी ईर्ष्या

आज साधारण जनता और पढ़े-लिखे लोगों की भी मनोदशा कुछ विचित्र-सी हो गयी है। वह उस बीमार की-सी है, जिसे कोई वेदनादायक रोग हो गया हो। इस तरह का हरएक रोगी समझता है कि इस बीमारी से तो दूसरी कोई भी बीमारी हो जाती तो मैं सह लेता, लेकिन यह बीमारी दुःसह है। जिसे दूसरी कोई बीमारी हुई हो और उसके कारण भारी पीड़ा सहनी पड़ती हो, वह भी यही कहता है। उनमें से हरएक अपनी बीमारी की अपेक्षा दूसरे की बीमारी को कुछ कम वेदनादायी समझता है। उपचार या इलाज के बदले वह

बीमारी के अदल-बदल की ही बात सोचने लगा है। जब हरएक अपनी ही बीमारी को सबसे अधिक दर्दनाक और उग्र समझता है, तो इसका निर्णय करना भी मुश्किल है कि दरअसल किसकी शिकायत सही है। सभी बीमार एक-दूसरे की बीमारी से ईर्ष्या करते हुए अपने-अपने बिस्तर पर करवट बदलते रहते हैं। लेकिन करवट बदलना आराम की दवा थोड़े ही है।

निरुपयोगी नकारात्मक तरीका

आज कुछ इसी तरह की मनोवृत्ति देश में फैल रही है। कौन-सी विचार-धारा, नीति या कार्यक्रम देश के लिए निश्चित रूप से कल्याणकारी साबित होगा, इसकी ठीक-ठीक कल्पना जनसाधारण को नहीं है। वह इतना ही सोचता और समझता है कि आज जिनके हाथों में सत्ता है, वे मेरा दुःख-निवारण नहीं कर सके इसलिए वह उनसे नाराज है। उसे इसका पक्का पता नहीं है कि उसके कलेशों का निवारण कौन कर सकेगा ! लेकिन फिर भी वह जिनसे नाराज हो गया है, उनको गद्दी से उतार कर अपना गुस्सा शांत करना चाहता है।

इस प्रकार की केवल नकारात्मक भूमिका में आज देश की भलाई नहीं है। अंग्रेजी राज के खिलाफ जब गांधीजी ने अहिंसक विद्रोह शुरू किया, उस वक्त उन्होंने यह कहा कि अंग्रेजी राज शैतान का राज है, वह रावण-राज है; इसलिए हमें उसका अंत करना है। हमको परिणामों की फिक्र नहीं है। इसी दृष्टि से उन्होंने अंग्रेजी राज से होनेवाले फायदों का सबसे पहले त्याग करने के लिए कहा । अंग्रेज सरकार के विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों का बहिष्कार, उनकी अदालतों और धारासभाओं का बहिष्कार करने के लिए उन्होंने जनता को आदेश दिया। अंग्रेजी राज का विरोध उन्होंने इसलिए नहीं किया कि वह सुराज्य नहीं था; बल्कि इसलिए किया कि वह स्वराज्य नहीं था। अतएव उनका

यह कहना कि परिणामों की चिंता किये बिना इस राज को उलट दो, बिलकुल नीतिसंगत और युक्तिसंगत था।

अविश्वास से देश का अनर्थ

हमें सोचना यह है कि क्या आज जनता की इसी प्रकार की धारणा है ? जो लोग आज की सरकार को अंग्रेज सरकार से भी बदतर बतलाते हैं, वे तो सिर्फ उन रोगियों की भाषा बोलते हैं, जो किसी एक रोग से तंग आ गये। उनकी भाषा आवेशयुक्त प्रचार की है। उसमें दर्द और गुस्सा है। वह गंभीर (सीरियस) या पारमार्थिक नहीं है। सर्वसाधारण आज के शासन से इसलिए रुष्ट है कि वह शासन सुराज नहीं ला सका; इसलिए नहीं कि स्वराज से परराज ही अच्छा है। मतलब यह कि आज जनता सुराज और सुप्रबंध के लिए लालायित है। वह वर्तमान सरकार के बदले दूसरा कुप्रबंध या अराजक नहीं चाहती। इसलिए सुबुद्ध जनहितैषी व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे जनता को कल्याण का विधायक मार्ग दिखावें। जो लोग किसी वाद, दल, गुट या गिरोह के कायल नहीं हैं, उन्हें गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि देश को आज की बिगड़ी हुई परिस्थिति में से सचमुच कौन उबार सकता है ? हम तो यहाँ तक कहने के लिए तैयार हैं कि जो कोई भारत की जनता को अन्न, आच्छादन और आश्रय (खाना, कपड़ा और घर) तुरन्त देने का यथार्थ और निश्चित आश्वासन दे सके, वह गद्दी पर बैठने के लिए सर्वथा योग्य है। स्पष्ट है कि केवल शाब्दिक आश्वासन पर्याप्त नहीं होगा। आज की हालत में लोगों का न एक-दूसरे पर विश्वास है और न सरकार पर। सरकार से उन्हें जितनी अधिक आशाएँ थीं, उतनी ही दारुण निराशा है। इसमें एक बड़ा भारी खतरा यह है कि मौजूदा सरकार के लिए जो अविश्वास है, उसी के कारण दूसरों के आश्वासन का भरोसा करने की प्रवृत्ति होगी। यह भावरूप विश्वास नहीं है; केवल एक नकारात्मक भरोसे की भावना है । इसमें से जनसत्ता में विश्वास करनेवाले किसी भी दल को कोई शक्ति नहीं मिलेगी । आज की सरकार जिन अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकी है,

वे सारी अपेक्षाएँ उस सरकार का स्थान लेनेवाली नयी सरकार से की जायेंगी और यदि उनकी पूर्ति न हो सकी तो सार्वत्रिक अविश्वास की भावना का कोई पारापार नहीं रहेगा। सार्वत्रिक अविश्वास में से न तो आत्मविश्वास ही पैदा होता है और न परप्रत्यय में श्रद्धा । सब तरफ जब अनभरोसे का वायुमंडल बन जाता है तो आदमी को न अपने पर भरोसा होता है, न दूसरे पर। भगवान् का भरोसा तो इससे पहले ही हवा हो जाता है। आज हमें देश को इस अनर्थ से बचाना है।

राज्य को ही भगवान् मानने की प्रवृत्ति

आज की परिस्थिति में एक और अजीब चीज देखने में आती है । नैसर्गिक संकटों के लिए भी लोग सरकार को ही कोसते हैं और शाप देते हैं । अंग्रेजों के जमाने में भी जब कोई प्राकृतिक संकट आता था या जब अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि होती थी, तो लोग उसे ईश्वरी कोप कहते थे। जिन लोगों में राजनैतिक चेतना जागृत थी, वे ही उसके लिए सरकार को दोष देते थे; परन्तु इन आंदोलनकारियों को छोड़ कर दूसरे सारे पढ़े-लिखे और अपढ़ नागरिक उसे भगवान् का कोप समझते थे। आज राजनैतिक चेतना व्यापक रूप से सारी जनता में फैल गयी है, इसलिए जहाँ जाइये, लोग ईश्वर या निसर्ग का नाम भी नहीं लेते। सारी आपत्तियों के लिए शासन को ही जिम्मेवार समझते हैं । पुराने जमाने में दिल्लीश्वर ही जगदीश्वर समझा जाता था। राजा भगवान् का प्रतिनिधि माना जाता था। उसी न्याय से आज राज्य ही भगवान् माना जाने लगा है । एक दृष्टि से इसमें राज्यसत्ता का गौरव तो है; लेकिन वह लोकसत्ता के विकास के लिए कहाँ तक लाभकारी सिद्ध होगा, यह सोचने का विषय है।

पहले राजा प्रजा का पिता और पालक था । उनके जन्मदाता माँ-बाप केवल जनक-जननी होते थे; इसलिए हमारे देश में सरकार माँ-बाप समझी जाती रही और लोगों में यह

धारणा बद्धमूल हो गयी कि लोगों की भलाई करने की सामर्थ्य केवल सरकार में ही है, राजा की तरह राज्य भी प्रत्यक्ष विधाता की जगह पर है। रामचन्द्रजी के राज में जब किसी ब्राह्मण का तरुण बेटा मर गया, तो उसने उसके लिए रामचन्द्रजी को जिम्मेवार माना । इसमें उस ब्राह्मण की रामचन्द्रजी के लिए असीम श्रद्धा प्रकट होती है। लेकिन रामराज्य की प्रजा जिम्मेवारी से बरी हो जाती है।

सत्ता और सामर्थ्य का अधिष्टान

सवाल यह है कि यदि रामचन्द्रजी में इतनी सामर्थ्य हो कि उनके राज में किसी का जवान बेटा मरने न पायेगा, तो यह सामर्थ्य उनमें कहाँ से आयी ? क्या वह उनकी अपनी जन्मसिद्ध व्यक्तिगत शीक्त मानी जाय ? तब तो रामचन्द्रजी को सर्वशक्तिमान और सर्वसाक्षी ईश्वर का अवतार मानकर प्रजा को उनकी सन्तान या परिपाल्य मान लेना ही काफी है। प्रजा में ईश्वर की या सामर्थ्य की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । दूसरे शब्दों में प्रजा सर्वाधिकार-सम्पन्न या राजनैतिक परिभाषा में सर्वसत्ता का अधिष्टान (सॉवरेन) नहीं मानी जा सकेगी । यह तो लोकसत्ता की मूल भित्ति ही ढह गयी । लोकसत्ता की आधारभूत निष्ठा यह है कि सत्ता और सामर्थ्य का अधिष्टान 'लोक' है। राज्य या राजा उस सामर्थ्य और सत्ता का प्रतीक है ।

लोकसत्ता के औपचारिक बन जाने का भय

हमारी जनता जिस दिन इस दृष्टि और वृत्ति को अपना लेगी, उस दिन वह किसी सरकार को उतनी शक्तिशाली नहीं मानेगी जितनी आज मानती है। उसकी यह प्रतीति होगी कि सरकार से वह कहीं अधिक शक्तिशाली है । परिणाम यह होगा कि शासन-प्रथा या शासनकर्ता बदलने में उसे विशेष प्रयास नहीं होगा। वशिष्ट ने राजा दशरथ से कहा था कि 'फल अनुगामी महिपमणि, मन अभिलाष तुम्हार ! राजा, तुम्हासी इच्छा के पीछे-पीछे सिद्धि

दौड़ती है ।' राजसत्ता में जो सामर्थ्य राजाज्ञा में होती है या राजा की इच्छा में होती है, वही सामर्थ्य लोकसत्ता में लोगों की इच्छा-शक्ति या सार्वत्रिक संकल्प (जनरल विल) में प्रविष्ट होनी चाहिए। अन्यथा लोकसत्ता केवल एक बाहरी औपचारिक वस्तु रहेगी ।

यह किसी दल-विशेष या पक्ष-विशेष का सवाल नहीं है। सारे राष्ट्र का प्रश्न है, क्योंकि हमारे गण-राज्य की सफलता इसी पर निर्भर है।

७-१२-१९५०

९. मतयाचना या मतपरिवर्तन

चुनाव की तैयारियाँ

इस देश में आम चुनाव १९५१ के मार्च-अप्रैल में होनेवाले थे। चुनाव-बहादुरों की भुजाएँ फड़कने लगी थीं। कुछ लोगों ने खम ठोकना भी शुरू कर दिया था। हरएक दल अपने-अपने घोषणापत्र और कार्यक्रम की आकर्षक रूपरेखा बनाने के विचार में मग्न हो गया। इतने में चुनावों के मुल्तवी होने की खबर निकली। सभी का उत्साह कुछ ठंढा पड़ गया।

चुनाव स्थगित

इस घटना का भी एक सबक है। जहाँ तक हमें पता है, चुनाव मुल्तवी करने में इस वक्त किसी प्रमुख व्यक्ति को किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं थी; बल्कि सभी यह चाहते थे कि अब चुनाव यथासंभव शीघ्र ही हो जाने चाहिए। फिर भी भारत के राष्ट्रपति को यह घोषणा करनी पड़ी कि चुनाव १९५१ के अक्टूबर से पहले नहीं हो सकेंगे । 'सर्वोदय' में पिछले दिनों कहा गया था कि आज-कल घटनाओं पर मानो किसीका काबू नहीं रह गया है । ऐसा जान पड़ता है कि राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक घटनाएँ भी प्राकृतिक घटनाओं और उत्पातों की तरह दैवयोग से ही घटित होती हैं । जब सभी महत्त्व के व्यक्ति और नेता यह चाहते थे—और सच्चे दिल से चाहते थे इसमें कोई शक नहीं—तो चुनाव मुल्तवी क्यों करने पड़े ? एक ही उत्तर है, परिस्थितिवश। फलित्तार्थ यह है कि परिस्थिति पर मनुष्य का अधिकार बहुत कम रह गया है।

मतदाता की जिम्मेवारी

चुनावों की तारीख पर जिस तरह आज हमारा पूरा-पूरा काबू नहीं रह सका, उसी तरह शायद चुनावों पर भी न रह सके। यह आशंका सर्वथा निराधार नहीं है। हरएक दल को, गुट और गिरोह को चुनाव में चाहे जिस रीति से सफलता प्राप्त करने की फिक्र रहेगी। हरएक की यह कोशिश होगी कि कहीं लोगों के दिमाग शांत और ठंढे न रह जायँ। हरएक उम्मीदवार और उसके समर्थक तथा पृष्ठपोषक अपने लिए अधिक से अधिक 'वोट' जुटाने की कोशिश करेंगे । उनमें से कुछ वोटरों को चकमें देंगे, धौंस देंगे या धमकियाँ देंगे। आश्वासनों और अभिवचनों की तो खासी प्रतियोगिता होगी । न उम्मीदवार अपने नित्य के होश में होगा और न वह वोटरों को होश में रहने देगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के वोटर अपने-अपने ढंग के सवाल पूछेंगे और उम्मीदवार अद्भुत हाजिरजवाबी से उन सबको माकूल उत्तर देगा।

उम्मीदवारों के अभिवचन

चुनाव का नशा जब सवार हो जाता है तब अभिवचनों और आश्वासनों के विषय में उम्मीदवार कर्ण से भी अधिक उदार हो जाते हैं । फिर वे व्यवहार्यता और अव्यवहार्यता का भी विचार छोड़ देते हैं। एक किस्सा मशहूर है। एक आदमी दूसरे गाँव को रवाना होने लगा। चलते समय घर के और पास-पड़ोस के लोगों ने अपनी-अपनी चिट्ठियाँ पहुँचाने के लिए उसके पास दीं। उसके बाद सन्देशों का ताँता शुरू हुआ । यात्री 'हाँ, जरूर' कहता जाता। जब गाड़ी ने सीटी दी तो एक आदमी ने कहा, "देखो भाई, एक बहुत जरूरी सन्देशा है। वहाँ मेरा बेटा अपने ननिहाल में है । उससे कह देना कि घर के पिछवाड़े जो कुआँ है उसे उठा कर अगवाड़े के आँगन में रख दे।" यात्री जाने के धुन में था । बोला, "हाँ-हाँ, जरूर कह दूँगा ।" सन्देशा देनेवाला बोला, "देखो, कहीं भूल जाओगे।" यात्री हरएक शब्द पर जोर

देता हुआ बोला, “नहीं, जनाब, आप कोई फिक्र न कीजिये ।" इसमें उस यात्री की नीयत धोखाधड़ी की जरा भी नहीं थी, लेकिन वह क्या करता ? उस पर तो जाने की धुन सवार थी।

सत्तावादी राजनीति का मार्ग

इस दृष्टांत में अत्युक्ति है । उसके अतिरंजित व्यंग्य को छोड़कर हमें उसका सार ग्रहण कर लेना चाहिए। अभिप्राय यह है कि अब ऐसे राष्ट्रीय संकट के मौके पर हमें चुनाव में अपनी सफलता की अपेक्षा जनता को सम्यक् रूप से शिक्षित करने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। कुछ लोगों को यह प्रण कर लेना होगा कि पक्षभेद, दलभेद और वादभेद आदि सबसे परे रह कर हम केवल जनहित की दृष्टि से जनमत को शिक्षित करेंगे। इसके लिए विद्यमान प्रक्रिया के बदले एक नयी प्रक्रिया को अंगीकार करना होगा। आज चुनाव में विशेष जोर मतयाचना पर होता है । हम अपना-अपना भिक्षापात्र लेकर वोटरों के पास वोट माँगने जाते हैं, गिड़गिड़ाते हैं, समझाते-बुझाते हैं, हुज्जत करते हैं और आखिर लालच तथा डर भी दिखाते हैं । उन्हें एक तरह से अबोध बालक समझ कर उन पर भय और लोभ के अस्त्रों का प्रयोग करते हैं। हमें इस बात की चिंता नहीं होती कि इस नीति से जनता का नैतिक पतन होता है, नागरिक नीति की हानि होती है। हम तो समझते और मानते हैं कि हमारे हाथ में हुकूमत आते ही सारी कैफियत बदल जायगी। जिन उपायों से और तरीकों से हमने हुकूमत हासिल की, उन युक्ति-प्रयुक्तियों और तरीकों का रंग हमारी सत्ता पर नहीं चल सकेगा या फिर हम ऐसा मानते हैं कि सत्ता हाथ में आने के बाद हम फिर भय और लोभ के अस्त्रों के प्रयोग से जनता को सीधे रास्ते पर रखेंगे।

लोक-शिक्षण का पुण्यपर्व

यह मार्ग और यह नीति जनता को जनतंत्र के लिए सक्षम बनाने की नहीं है । यह केवल सत्तावादी राजनीति है । उसे केवल राज्यसत्ता से मतलब है, लोकनीति से उसे कोई सरोकार नहीं । जिन लोगों को लोकनीति के प्रति आस्था है, उन्हें निश्चयपूर्वक और अध्यवसाय के साथ दूसरे मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। उनका मार्ग मतयाचना का नहीं, मतजागृति, मतपरिवर्तन और मतनिर्माण का होना चाहिए। मनुष्यों के वोट बटोरने के बदले उनके मन जीतने की चिंता उन्हें अधिक होनी चाहिए। नजीता यह होगा कि वोटर अपनी बुद्धि से निर्णय करना सीखेगा और चुनाव का मौसम लोकशिक्षण का एक पुण्यपर्व होगा न कि सत्ताप्राप्ति की होड़ का मौका।

७-१२-१९५०

१०. आगामी चुनाव और विचारों की उलझन

किसी कवि ने भविष्य की उज्जवल झाँकी के बारे में एक कविता लिखी है। इस कविता में उसने बतलाया है कि उस उज्जवल भविष्यकाल में क्या-क्या होगा। जो अनेक चिरवांछित परिवर्तन होंगे, उनमें से एक यह भी होगा कि 'ऑल शैल वी फॉर द स्टेट एण्ड नन् फॉर द पार्टी'—सब लोग देश के हित की चिंता करेंगे, पार्टी या पक्षविशेष की फिक्र कोई नहीं करेगा।

"उड़दों में काले-गोरे"

इसी तरह की बात आगामी चुनावों के बारे में कई जगह कही जा रही है। लोग यह कहते पाये जाते हैं कि हम तो पार्टी-वार्टी कुछ नहीं जानते। जो व्यक्ति अच्छे होंगे, उनको अपनी राय देंगे । चीज कहने-सुनने में बड़ी अच्छी लगती है, लेकिन उस पर अमल करना उतना आसान नहीं है। सवाल यह है कि भला किसे कहें और बुरा किसे कहें । राजनैतिक क्षेत्र में भले-बुरे की व्याख्या भी सापेक्ष मालूम होती है। लोग जिसे सदाचार और चारित्र्य कहते हैं, वह निरपेक्ष है और सर्वत्र एकरूप होता है। सचाई, ईमानदारी, दयानत आदि गुण दल या पक्ष पर निर्भर नहीं होते। उनकी कदर सर्वत्र होती है।

आन्दोलन-काल की दृष्टि

परन्तु स्वराज्य के आन्दोलन में हमें यह अनुभव हुआ कि जिनमें ये गुण उत्कट रूप से मौजूद थे, ऐसे बहुत-से व्यक्ति उस आन्दोलन में हमारे साथ नहीं थे, क्योंकि उनके विचार और उनकी भावनाएँ अलग तरह की थीं। वे हमारे रास्ते को और तरीके को गलत समझते थे । ऐसी हालत में उनके निष्कलंक चारित्र्य का हमारे आन्दोलन के लिए कोई उपयोग नहीं था, बल्कि कभी-कभी हमें उनके विरोध का भी सामना करना पड़ता था। चारित्र्य और सद्गुण की दृष्टि से वे हमसे कहीं अधिक श्रेष्ठ थे, फिर भी उनका मत हमारे मत से भिन्न होने

के कारण वे हमारे साथ सहयोग नहीं कर सकते थे। उनके चारित्र्य और सद्‌गुणों से हम अपने विशिष्ट कार्य में अधिक लाभ नहीं उठा पाये।

'मत' का अधिकारी कौन

आज भी हमारे सामने सवाल कुछ इसी तरह का है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति बड़ा सदाचार-सम्पन्न, प्रामाणिक और विवेकशाली है। लेकिन वह सामाजिक समानता तथा आर्थिक समानता में उस हद तक विश्वास नहीं करता जिस हद तक कि हम करते हैं । फलत: वह अस्पृश्यता को मानता है, स्त्रियों को मताधिकार देने के खिलाफ है और यह मानता है कि आर्थिक विषमता भी अनिवार्य है। अब ऐसे व्यक्ति को हम केवल उसके चारित्र्य का खयाल करके अपना प्रतिनिधि कैसे बना सकते हैं ? हमें उसकी नीयत और चालचलन के बारे में कोई शक और शिकायत नहीं; परन्तु उसके आर्थिक और राजनैतिक मन्तव्यों से हम सहमत नहीं हो सकते । ऐसी स्थिति में हम केवल चारित्र्य के आधार पर किसीको अपना मत कैसे दे सकते हैं ?

केवल 'हमराय' होना काफी नहीं

जो शोहदे हैं, खुदगर्ज हैं और चालबाज हैं, देश के हित की बनिस्बत जो अपने स्वार्थ को अधिक महत्त्व का समझते हैं, वे चाहे किसी भी पक्ष के क्यों न हों, उनको हम अपना मत न दें यह बात तो समझ में आती है, क्योंकि स्वार्थी और दुर्गुणी व्यक्ति केवल हमारे मत का होने से हमारा प्रतिनिधित्व कदापि नहीं कर सकता। वह न तो किसी पक्ष या दल का प्रतिनिधित्व कर सकेगा और न देश का ही । वह तो सिर्फ अपना उल्लू सीधा करने की फिक्र में रहेगा । उसे न सिद्धान्त से मतलब है और न जनता से। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए वह पक्ष का या पार्टी का उपयोग उपकरण की तरह कर लेता है। उसका पक्ष उसके लिए लोकसेवा का औजार नहीं है, केवल अपना मतलब सिद्ध करने का उपकरण मात्र है।

ऐसे व्यक्तियों को न तो किसी पार्टी का टिकट ही मिलना चाहिए और न मतदाताओं का मत ही मिलना चाहिए।

जनता की कसौटी

लोग जब यह कहते हैं कि हम बुरे आदमियों को मत नहीं देंगे, तब उनका अभिप्राय यह होता है कि हम उन व्यक्तियों को मत नहीं देंगे जो सत्ता को व्यक्तिगत गौरव का सोपान बनाना चाहते हैं । जनता के मन में अच्छे आदमियों से मतलब उन आदमियों से है जो दलित-पीड़ित और पिछड़ी हुई मानवता के अधिकारों के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार हैं, जिनका अपना कोई स्वार्थ नहीं और जो विश्वासघात और झूठ से परे हैं।

सारांश यह कि हम अच्छे आदमी उन्हें कहेंगे, जो अपने विचार और व्यवहार से हमारी अभीष्ट आर्थिक तथा सामाजिक क्रांति करने में सहायक होंगे। यों भले और नेक आदमी तो जीर्णमतवादी सनातनियों में, दकियानूसी मुल्ला-मौलवियों में और उग्र सम्प्रदायबादी तथा संकीर्ण जातिवादी तबकों में भी पाये जायेंगे; परन्तु उतने से हमारा हेतु सफल नहीं होता। जब हम यह कहते हैं कि हम सदाचारी और योग्य व्यक्तियों को ही अपना प्रतिनिधि बनायेंगे तब हम यह मान ही लेते हैं कि उनकी योग्यता में विचारों की और भावनाओं की अनुकूलता गृहीत है । हमारे समान विचार और भावनाएँ रखनेवाले व्यक्तियों में से हम केवल उन्हीं व्यक्तियों को चुनेंगे, जिनमें चारित्र्य के मूलभूत गुण होंगे । चारित्र्य अनिवार्य है। वह बुनियादी चीज है, लेकिन प्रतिनिधित्व के लिए पर्याप्त नहीं है । चारित्र्य के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक क्रांति की निष्ठा भी होना आवश्यक है।

इधर मित्रों से चर्चा करते समय विचारों की जो उलझन देखी, उसको कुछ अंश में दूर करने के लिए यहाँ यह विश्लेषण किया है।

धनतोली, नागपुर १० जून, १९५१

विधान-सभाएँ और अस्पृश्य उम्मीदवार

आज 'मातंग' जाति के एक आदमी आये । 'मातंग' या 'मांग' जाति महाराष्ट्र की अस्पृश्य जातियों में से एक है। उनका यह कहना है कि आज तक अस्पृश्यों में से मांग और भंगी जाति का एक भी व्यक्ति धारासभा में नहीं भेजा गया। इसलिए उनकी यह माँग है कि अब की दफा कुछ मांग और भंगी अवश्य भेजे जाने चाहिए।

ऊपर राजनैतिक पक्षभेदों की चर्चा करते हुए हमने यह देखा है कि चारित्र्य और योग्यता की कसौटी निरपेक्ष और निरपवाद नहीं हो सकती । यदि कोई व्यक्ति चारित्र्य और योग्यता की दृष्टि से श्रेष्ठ होता हुआ भी किसी सम्प्रदायवादी, जातिवादी या आतंकवादी पक्ष का सदस्य है, तो भी वह हमारे किसी काम का नहीं, क्योंकि वह अपने पक्ष के नियमों, मन्तव्यों और बन्धनों से जकड़ा हुआ रहेगा। और यदि वह किसी भी पक्ष या दल का नहीं है, स्वतन्त्र व्यक्ति है, तो भी उसके विचारों और मतों का ध्यान हमें रखना ही होगा।

लेकिन यहाँ तो एक तीसरी कसौटी और लगा दी गयी है। जिन जातियों को कभी अपना उम्मीदवार खड़ा करने का मौका नहीं मिला है, या जिनके उम्मीदवार कभी चुने ही नहीं गये हैं, उन्हें अवश्य अवसर मिलना चाहिए। अर्थात् यहाँ चारित्र्य, योग्यता और मत की अपेक्षा 'जाति' का महत्त्व अधिक समझना होगा। केवल अच्छे और बुरे की कसौटी अगर आप इनके लिए लागू करेंगे तो राजनैतिक क्षेत्र में आप जिन्हें योग्य और अच्छा समझते हैं, उनके साथ स्पर्धा में ये ठहर नहीं सकेंगे और इन्हें कई वर्षों तक मौका ही नहीं मिलेगा । इसी दृष्टि से विधान में पिछड़ी हुई और परिगणित जातियों तथा जमातों के लिए दस वर्ष तक विशेष प्रतिनिधित्व रखा गया है। परन्तु पिछड़े हुए और परिगणित तबकों में कुछ अधिक पिछड़े लोग हैं, उनकी ओर से यह माँग की जा रही है।

यह प्रश्न केवल किसी एक ही राजनैतिक दल या पक्ष के सामने नहीं है । आज जो पक्ष केवल विरोध में काम कर रहे हैं, उनके सामने शायद यह प्रश्न तुरन्त पेश न हो, परन्तु जो सत्तारूढ़ होंगे, उन्हें इसे अवश्य ही हल करना होगा। वर्ग-निराकरण के लिए जिस प्रकार हमें क्षिप्र परिणामकारी उपाय काम में लाने होंगे, उसी प्रकार जाति-निराकरण की प्रक्रिया का भी प्रयोग शुरू करना होगा।

१३-६-१९५१

११. चुनाव में सर्वसामान्य और अनिवार्य कसौटियाँ

सर्वोदय के पिछले अंक में उम्मीदवारों की योग्यता के बारे में थोड़ा-सा विवेचन किया था। हमारा लक्ष्य भारत में पार्लमेण्टरी पद्धति के द्वारा वास्तविक गणतंत्र की स्थापना करना है। गणतंत्र की स्थापना में वर्गभेद और जातिभेद सबसे अधिक बाधक हैं। इन दो प्रमुख प्रत्यवायों का निवारण हमारी सारी योजनाओं का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। इसलिए प्रतिनिधियों के चुनाव में इस देश के सभी पक्षों और दलों को अपनी-अपनी विशिष्ट कसौटियों के साथ-साथ यह सामान्य, अनिवार्य और आधारभूत कसौटी रखनी चाहिए कि हमारा उम्मीदवार वर्ग-भेद, संप्रदाय-भेद और जाति भेद का निराकरण तुरन्त आवश्यक समझता हो; और उस निराकरण की किसी-न-किसी योजना तथा कार्यक्रम का प्रतिपादन करता हो। सम्प्रदायवादी, जातिवादी, वर्गवादी और लोकनिष्ठ व्यक्तियों की परख करने के लिए कुछ साधारण कसौटियाँ यहाँ सुझायी जाती हैं।

वर्ग-विरोधी गरीब

१. वर्ग-निराकरण में विश्वास से मतलब है, पूँजीवाद का अन्त करने का निश्चय। जो साधनहीन और सम्पत्तिहीन लोग हैं, उनके लिए तो यह संकल्प बिलकुल स्वाभाविक है। उनके बारे में कसौटी यह हो सकती है कि वे खुद अमीर और पुँजीपति बनने की अभिलाषा न रखें। जो गरीब अमीर बनना चाहता है या अमीरों से सिर्फ इसीलिए ईर्ष्या करता है कि वे अमीर हैं और मैं गरीब हूँ, ऐसा गरीब व्यक्ति वर्ग-निराकरणवादी नहीं है। उसे तो केवल अपनी गरीबी से शिकायत है। वह संसार से अमीरी और गरीबी के फर्क को खतम करना नहीं चाहता। इसीलिए निर्धन और अकिंचन उम्मीदवार के लिए भी यह कसौटी होनी चाहिए कि जो कुछ भी अत्यल्प, व्यक्तिगत या कौटुम्बिक परिग्रह उसके पास है, उस पर

वह अपनी सत्ता नहीं मानता, उसे समाज की धरोहर समझता है और उसे बढ़ाने की कोशिश, अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक लाभ के लिए नहीं करता।

वर्ग-विरोधी अमीर

जो लोग साधन-सम्पत्ति-सम्पन्न हैं, उन उम्मीदवार के लिए यह कसौटी होगी कि वह अपनी जायदाद और सम्पत्ति समाज की थाती समझेगा और इस बात की लगातार कोशिश करता रहेगा कि सम्पत्ति के बँटवारे के कानून जल्द-से-जल्द बनें और इस तरह उसका अपना परिग्रह सारे समाज के हाथों में चला जाय। यानी चाहे सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण होने में या उसका आत्यंतिक विकेन्द्री-करण होने में कुछ अवधि भले ही लग जाय, परन्तु वह तो अपने आप को आज ही से मालिक मानना छोड़ देगा । स्पष्ट है कि वह अपना धन असामाजिक और अनुचित उपायों से बढ़ाने की कोशिश हरगिज नहीं करेगा, बल्कि सम्पत्ति का और पैसे का किराया लेने से भी, जहाँ तक हो सके, इन्कार करेगा।

एक मोटी पहचान

इस प्रकार के व्यक्ति की एक मोटी पहचान यह है कि यदि दूसरे धनवान् व्यक्ति के मुकाबले में उसे खड़ा किया जाय तो साधारण जनता उसे पसन्द करेगी ।

सारांश

मतलब यह कि गरीब के लिए तो यह कसौटी हो सकती है कि वह अपने वर्ग का उत्कर्ष चाहे, यानी उसकी गरीबी का निवारण चाहे। लेकिन अमीर के लिए यह कसौटी होगी कि वह अपने वर्ग का अन्त करना चाहे, यानी उसकी अमीरी का ही निवारण करना चाहे । इसलिए अमीरों को भी ऐसा ही प्रतिनिधि चुनना चाहिए जो अमीरी का फौरन अन्त कर देना चाहता हो। अमीरी का अन्त कर देने से मतलब यह नहीं है कि सभी को हम समान रूप से गरीब बना देना चाहते हैं। अमीरों के अन्त से मतलब है—मुट्ठीभर अमीरों की अमीरी

का अन्त; अर्थात् असल में गरीबी का अन्त । गरीबों की गरीबी का अन्त करने के लिए—यानी गरीबी और आअमीरी के फर्क को मिटाने के लिए—जो अपनी सम्पत्ति और शक्ति का उपयोग करता हो वह आदमी हमारे काम का है।

सम्प्रदाय-विरोध

२. सम्प्रदायवादी और सम्प्रदाय-विरोधी व्यक्ति की पहचान भी इसी तरह हो सकती है। जिस व्यक्ति को उसके सम्प्रदाय के लोग, उसी सम्प्रदाय के दूसरे व्यक्ति से अधिक पसन्द करते हों, वह व्यक्ति सम्भवत: अधिक सम्प्रदायवादी हो सकता है। वह दूसरे सम्प्रदायों के मुकाबले में अपने सम्प्रदाय का विशेष रूप से पक्षपाती है, शायद इसीलिए उसके सम्प्रदाय के लोग उसे अपना सच्चा अभिभावक और प्रतिनिधि समझते हैं । जो मुसलमान मुसलमानों के स्वार्थों का रक्षण करने में अधिक तत्पर और कट्टर होता है, उसे मुसलमान लोग अधिक पसन्द करते हैं, यानी जो मुसलमान जितना अधिक सम्प्रदायवादी होगा, वह उतना अधिक योग्य समझा जायगा । जो सिक्ख जितना अधिक कट्टर सम्प्रदायवादी होगा, वह उतना अधिक योग्य उम्मीदवार समझा जायगा । जो हिंदू जितना अधिक हिंदुत्ववादी होगा, वह उतना ज्यादा लायक समझा जायगा । इस तरह सम्प्रदायवाद का गुणाकार होगा, उसका निराकरण नहीं ।

स्थूल कसौटी

उसके निराकरण के लिए दूसरी कसौटी से काम लेना होगा । एक ऐसे क्षेत्र में, जहाँ हिन्दुओं की संख्या अधिक है, मान लीजिये कि दो मुसलमान उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं । उनमें से जिसे हिन्दू अधिक पसन्द करें वह अधिक योग्य समझा जाना चाहिए। यही नियम हिन्दू उम्मीदवार और सिक्ख उम्मीदवार पर भी लागू होगा। सम्प्रदायवाद के निराकरण की और लोकनिष्ठा के विकास की यही प्रक्रिया है।

जातिवाद-विरोध

३. जो कसौटी सम्प्रदायवाद के लिए उपयुक्त है, वही जातिवाद के लिए भी उपयुक्त है। वर्ग और जाति में सबसे बड़ा फर्क यह है कि वर्ग के व्यक्ति नित्य बदलते रहते हैं । एक व्यक्ति के जीवन में भी उसका वर्ग कई बार बदल सकता है । परन्तु जाति अपरिवर्तनीय है । सम्प्रदाय और जाति में भी यह भेद है कि सम्प्रदाय में से व्यक्ति निकल सकते हैं या नये-नये व्यक्ति उसके भीतर आ सकते हैं; पर जाति में व्यक्तियों के प्रवेश का एक ही दरवाजा है और वह है जन्म । उसी तरह उनके बाहर जाने का भी एक ही द्वार है जिसका नाम है मृत्यु। जाति अपरिवर्तनीय है, इसीलिए उसमें कट्टरता और कटुता भी अधिक है; क्योंकि वह अधिक स्थायी है और उसके व्यक्ति नहीं बदलते । इसलिए उसके निराकरण के लिए भी अधिक जागरूकता से और निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना होगा।

स्थूल कसौटी

जातिवाद-विरोध की पहचान कुछ इस तरह की हो सकती है । मान लीजिये कि एक ब्राह्मण उम्मीदवार है। उसकी योग्यता की परख यह होगी कि गैर-ब्राह्मणों की अपेक्षा वह अधिक लोकप्रिय है या नहीं ? यही कसौटी मारवाड़ी पर भी लागू की जायगी । इसी तरह अन्य जातियों के उम्मीदवारों की भी परख हमें करनी चाहिए।

सारांश यह कि लोकनिष्ठ व्यक्ति वह समझा जायगा जो अपने विशिष्ट वर्ग, सम्प्रदाय या जाति के हित की अपेक्षा सबके सम्मिलित हित की चिंता अधिक करेगा; जो यह समझेगा और महसूस करेगा कि अल्प स्वार्थों के जोड़ का अर्थ समाजहित नहीं है।

आगामी चुनावों में इस देश के सभी राजनैतिक दल और पक्ष यदि लोकनिष्ठा का सचाई के साथ विकास करना चाहते हों तो उन सबके लिए समान ये सार्वत्रिक कसौटियाँ हो सकती हैं, चाहे उनके अपने अलग-अलग कार्यक्रम कुछ भी क्यों न हों।

२-७-१९५१

१२. जनता के सत्व का परिपोष

हमारे राष्ट्रजीवन के प्रमुख बीज-मंत्र

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की परम्परा में कुछ युग-प्रवर्तक सांकेतिक शब्द तथा सूत्र हैं। यह आन्दोलन जब लोकाभिमुख होने लगा, तो सबसे पहले पितामह दादाभाई नौरोजी ने 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण किया। उन्होंने कहा कि "हमारे सारे दुःखों का 'स्वराज्य' के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।" इसके बाद भारत के सर्वप्रथम लोकनिष्ट नेता लोकमान्य तिलक ने आत्मप्रत्यय के साथ ज्वलंत शब्दों में घोषित किया कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा।" हमारे जन-आंदोलन का वह बीज-मंत्र बन गया। उस स्वराज्य की व्यावहारिक व्याख्या करते हुए तिलक महाराज ने कहा था, "मैं ऐसी शासन-व्यवस्था चाहता हूँ कि जिसमें कार्यकारिणी विधान-सभा की जिम्मेवार हो और विधानसभा पूरी तरह लोक-निर्वाचित हो।"

हमारी लोकनिष्ठा में विरोध

लोकमान्य की व्याख्या के अनुसार आज इस देश में लोकराज्य की स्थापना हो गयी है। लेकिन लोकराज्य का बाह्य आकार वास्तविक लोकसत्ता नहीं है। इसीलिए आज हम कई प्रकार के परस्पर-विरोधी भावों का संघर्ष देख रहे हैं।

यदि मैं धारासभा के लिए उम्मीदवार हूँ और लोग मुझे बहुमत से चुन लेते हैं, तो मैं कहता हूँ कि "लोगों के हृदय बिलकुल साबित हैं। वे भले-बुरे की परख करना जानते हैं। तभी तो उन्होंने अपने वोट मेरे पक्ष में दिये।" और अगर कहीं मैं हार जाऊँ तो मैं कहता हूँ कि "लोग धोखे में आ गये। उनमें इतनी समझ कहाँ ? भोले-भाले, अपढ़-अजान जो ठहरे! अभी यह देश जनतंत्र के योग्य नहीं हुआ है। इन्हें तो कोई कड़े नियन्त्रण में रखनेवाला अधिनायक ही चाहिए।"

एक ही सांस में विश्वास और अविश्वास

इस प्रकार हम एक ही साँस में लोगों की समझदारी में अपना विश्वास और अविश्वास प्रकट करते हैं । नतीजा यह है कि जब हम सार्वजनिक मताधिकार का विधान बनाते हैं, तब तो हमारे मन में यह विश्वास होता है कि लोग अपने इस अधिकार का सदुपयोग करेंगे। कम-से-कम उनमें यह क्षमता है। लेकिन जब हम चुनाव के लिए खड़े होते हैं, तब अधिक से अधिक वोट बटोरने के लिए दबाव, धमकी और झाँसा-पट्टी जैसे उपायों से काम लेने में नहीं हिचकिचाते। जो लोग केवल शुद्ध उपायों से ही काम लेते हैं, वे भी जनता को अबोध बालकों की तरह समझते हैं। उनका जनता की निर्णय-क्षमता में विश्वास नहीं होता।

'जनतात्मा' की सत्ता

भिन्न-भिन्न राजनैतिक पक्षों और दलों के कार्यक्रम तथा नीतियों में चाहे जितना अन्तर क्यों न हो, एक बात में यदि उनका एकमत हो जाय तो जनतन्त्र के ये आन्तरिक विरोध दूर किये जा सकते हैं । इसके लिए लोकमान्य तिलक ने एक बहुत ही अर्थपूर्ण सांकेतिक शब्द दिया है। वह शब्द है 'जनतात्मा।' उन्होंने अपना 'गीतारहस्य' ग्रन्थ जनतात्मरूप परमात्मा के चरणों में अर्पित किया है। आज हम जनता का केवल संख्याबल अपने पक्ष में प्राप्त करने की फिक्र में हैं । इसके बदले इस देश के सभी दलों और पक्षों को जनता की आत्मशक्ति जागृत करने की अधिक चिन्ता करनी चाहिए। मनुष्य की आर्थिक आकांक्षाओं और भौतिक कामनाओं को प्रोत्साहन देकर हम इस प्रकार की आत्मशक्ति का विकास कदापि नहीं कर सकेंगे। हम आर्थिक विषमता का निराकरण करना चाहते हैं, लेकिन मनुष्य की अर्थ-परायणता या लोभवृत्ति बढ़ाना नहीं चाहते । कुछ लोगों की अनियंत्रित अर्थ-परायणता के कारण ही आज समाज में इतनी भीषण आर्थिक विषमता पैदा हुई है । इस अर्थ-परायणता के सार्वत्रिक हो जाने से मनुष्य की मनुष्यता का विकास

होगा, ऐसी आशा करना व्यर्थ है। इसलिए हम आर्थिक विषमता के सम्पूर्ण निराकरण के साथ-साथ मनुष्य की अर्थ-परायणता को भी मर्यादित करना चाहते हैं ।

मनुष्य का स्वत्व किन मूल्यों में है ?

केवल बाह्य परिवर्तन से हमारा यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। इसके लिए मनुष्य के भीतर छिपी हुई शाश्वत सत्प्रवृत्तियों का विकास हमें करना होगा। मनुष्य की ये स्वभाव-सिद्ध अपरिवर्तनशील सत्प्रवृत्तियाँ ही उसके आत्मिक मूल्य हैं । यही उसका स्वत्व है। ये आध्यात्मिक मूल्य हमें किसी दूसरे लोक से या आसमान से नहीं लाने हैं। वे इसी धरती के हैं और मनुष्य-स्वभाव में अविच्छेद्य रूप से अंतर्निहित हैं ।

प्रतिकार और कलह में अन्तर

कार्ल मार्क्स का वर्ग-निराकरण का सिद्धान्त हमें मंजूर है । हम भी वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। लेकिन हमारी विवेक-बुद्धि इस बात को स्वीकार करने में असमर्थ है कि अन्याय और विषमता के निराकरण के लिए कलह या युद्ध अनिवार्य है। प्रतिकार अनिवार्य है और प्रतिकार कल्याणकारी भी है। परन्तु प्रतिकार एक चीज है और कलह दूसरी चीज है। प्रतिकार में उत्कटता की और वीरता की पराकाष्ठा हो सकती है, लेकिन उसमें द्वेष और तिरस्कार के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रतिकार से मनुष्य के स्वत्व का विकास होता है और कलह या युद्ध से उसके स्वत्व की हानि होती है।

एक उदाहरण ले लीजिये। किसी गाँव में नागरिकों की एक सभा हो रही है। सभा में बैठे हुए लोगों में बहुत-से-चोर हैं। लेकिन जब गाँव के सुप्रबंध के लिए नियम बनाने की बात आती है, तो ये चोर भी कहते हैं कि चोरी गुनाह है और उसके लिए सजा होनी चाहिए। उनमें से हरएक मन ही मन यह चाहता रहता है कि मेरे अकेले के लिए चोरी करने की सुविधा होनी चाहिए और इन्तजाम इतना ढीलाढाला होना चाहिए कि मैं पकड़ा न जाऊँ।

लेकिन साथ-साथ वह यह भी चाहता है कि चोरी का माल मेरे घर आ जाने के बाद फिर उसे चुरानेवाला दूसरा कोई चोर नहीं होना चाहिए और बन्दोबस्त भी इतना कड़ा होना चाहिए कि किसी की चोरी करने की हिम्मत न हो । इसलिए हरएक अपने लिए चोरी करने की सहूलियत चाहता हुआ भी गाँव के लिए चोरी के निषेध के पक्ष में मत देता है। व्यक्तिगत स्वार्थ और सार्वजनिक हित में इस प्रकार का अन्तर है । वैयक्तिक स्वार्थ की प्रेरणा लोभमूलक है, सार्वजनिक हित की प्रेरणा मनुष्य की आत्मा का गुणधर्म है।

प्रतिक्रिया क्रांति की प्रेरणा नहीं है

इसलिए हमें अपने आन्दोलन जाति-द्वेष, वर्ग-द्वेष के आधार पर नहीं चलाने चाहिए। द्वेष में एक प्रकार की तीक्षणता और आवेश होता है, इसलिए हम द्वेष से लाभ उठाना चाहते हैं । "तुम्हें जिनका विरोध करना है, उनसे दिलो-जान से नफरत करो, वरना तुम्हारी लड़ाई में जोश नहीं आयेगा," यह द्वेषवादियों का सूत्र है । वे यह भूल जाते हैं कि द्वेष से सिर्फ प्रतिक्रिया बढ़ती है, सर्वतोभद्र विधायक क्रान्ति-प्रेरणा का विकास नहीं होता।

दो व्यक्ति हैं। एक खुशहाल है और दूसरा गरीब है। गरीब को गरीबी के कारण कई तरह की मुसीबतें सहनी पड़ती हैं। वह यह देखता और जानता है कि उसकी अधिकांश मुसीबतों का कारण उस अमीर की अमीरी है, इसलिए वह चाहता है कि उस अमीर की अमीरी का नाश हो । इसमें कोई दोष नहीं है । वह यह भी चाहता है कि मेरी अपनी गरीबी का भी नाश हो। इसमें भी कोई बुराई नहीं है। लेकिन अगर वह भीतर ही भीतर यह चाहता हो कि कल मैं भी इसीकी तरह धन कमा कर अमीर बनूँ, तो उसकी प्रेरणा दूषित हो जाती है । फिर उस गरीब में और जिसका वह द्वेष करता है उस अमीर में, वृत्ति का कोई फर्क नहीं रह जाता, केवल स्थिति का फर्क रह जाता है । जो अमीर है और जो अमीर बनना चाहता है, इन दोनों में क्रांति की प्रेरणा की दृष्टि से अधिक भेद नहीं किया जा सकता। जो

लोग हिंसात्मक शक्ति के प्रयोग से अपनी सत्ता स्थापित करना चाहते हैं, वे अमीरों की सत्ता नष्ट करने के लिए गरीबों की इस स्वाभाविक प्रतिक्रिया से लाभ भले ही उठा लें, परन्तु अमीरों की अमीरी नष्ट करने के बाद गरीबों की अकांक्षा का नियंत्रण उन्हें बलप्रयोग से ही करना होगा।

शरीर-श्रम एक आवश्यकता नहीं, मानव-गुण

इसमें लोकात्मा का घोर अनादर है। उत्पादन के साधनों और औजारों पर जब किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के विशिष्ट समूह का अधिकार नहीं होगा, उस वक्त उत्पादन के लिए मनुष्य में कौन-सी आर्थिक प्रेरणा होगी ? मालकियत, प्रतिमूल्य और मुनाफा—ये तीनों पूँजीवादी पेरणाएँ हैं । मनुष्य के आज तक के सामाजिक इतिहास में ये प्रेरणाएँ अनर्थकारक साबित हुईं। किसी भी वर्गविहीन समाज में इन तीनों प्रेरणाओं का अभाव होगा। हरएक को परिश्रम तो करना होगा, लेकिन उसे उसके परिश्रम के हिसाब से प्रतिमूल्य नहीं मिलेगा । उसकी सारी उचित आवश्यकताएँ पूरी होंगी; परन्तु यह उसके परिश्रम का प्रतिमूल्य नहीं होगा । वहाँ हरएक व्यक्ति परिश्रम करेगा, क्योंकि बिना परिश्रम के उत्पादन नहीं हो सकेगा । परन्तु वह उतना ही परिश्रम करेगा, जितना कि आवश्यक होगा। अर्थात् वह परिश्रम को एक अनिवार्य आपत्ति मानेगा। उसे परिश्रम में रुचि नहीं होगी । लेकिन जब तक मेहनत या काम केवल एक अनिवार्य आवश्यकता रहेगी, तब तक मनुष्य को उसमें दिलचस्पी नहीं रहेगी । यदि हम उसके काम के साथ उसके किसी मतलब को या स्वार्थ को जोड़ देना चाहते हैं, तो फिर वही मालकियत की और मुनाफे की प्रेरणा आ जाती है। इसमें से समाजवाद के एक अति प्राचीन प्रवक्ता सेंट सायमन् ने एक मार्ग सुझाया था। उसने कहा था, “श्रम केवल जीवन-निर्वाह की एक आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। वह एक माननीय सद्गुण होना चाहिए।" और गांधी कहता है, "शरीर-श्रम हमारा व्रत होना चाहिए।" व्रतनिष्ठा आर्थिक मूल्य नहीं हो सकता। श्रम की आर्थिक प्रेरणा का निराकरण

करने का पारमार्थिक प्रेरणा के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है । मार्क्स की प्रक्रिया में जो त्रुटि रह गयी; उसकी पूर्ति गांधी की प्रक्रिया में है। इसलिए गांधी की प्रक्रिया क्रान्ति की प्रक्रिया की उत्तर-मीमांसा है। अर्थात् वह प्रक्रिया दूसरी किसी प्रक्रिया के पदार्थ के रूप में, प्रतिवाद के रूप में प्रस्तुत नहीं हुई है। दूसरे सभी दर्शनों का समन्वय करके उनकी कमी की पूर्ति करना और दोषों का निराकरण करना उसका हेतु है।

अस्तेय और असंग्रह-वृत्ति का विकास

सम्पत्ति के समान-वितरण के बाद भी यदि मनुष्यों में समान विपत्ति की स्थिति रही तो आक्रमण और अपहरण की प्रेरणा नष्ट कैसे होगी ? निजी संपत्ति का निराकरण करने के बाद भी व्यक्तिगत संपत्ति अर्थात् उपभोग्य वस्तुओं पर व्यक्तियों की सत्ता बनी रहेगी । हरएक की उपभोग्य वस्तुओं में कुछ-न-कुछ भिन्नता रहने की संभावना है । ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की वस्तु का अपहरण न करे, इसके लिए हमारे पास क्या योजना है। केवल दंड या शासन-व्यवस्था पर्याप्त नहीं साबित होगी । उसके लिए हमें व्यक्तियों के हृदय में अस्तेय की भावना का विकास करना होगा। निजी (Private) संपत्ति के विसर्जन के लिए असंग्रह की वृत्ति का विकास करना होगा; और व्यक्तिगत (Personal) संपत्ति के संरक्षण के लिए अस्तेय-वृत्ति का विकास करना होगा, अन्यथा शासन-संस्था के विलीन हो जाने की कोई आशा नहीं रहेगी । उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की भावना आज जिस प्रकार पूँजीपतियों को छोड़ देनी होगी, उसी प्रकार कल विकेन्द्रित समाज-व्यवस्था में भी परिश्रमशील व्यक्तियों को भी उस भावना का परित्याग करना होगा। परिग्रह यानी मालकियत और प्रतिमूल्य (मुबादले) की प्रेरणाओं का निराकरण करने के लिए केवल आर्थिक या राजनैतिक योजनाएँ पर्याप्त नहीं हैं । उन प्रेरणाओं की जगह उतनी ही उत्कट सांस्कृतिक प्रेरणाएँ जागृत करनी होंगी । इन सांस्कृतिक प्रेरणाओं को हम निरपेक्ष

सामाजिक मूल्य कह सकते हैं। इन मूल्यों की सत्ता पर हमारे सारे राजनैतिक और आर्थिक मूल्यों की प्रतिष्ठा निर्भर है।

१४-६-१९५२

१३. त्रावंकुर-कुचीन का रहस्य

जो परिस्थिति पैदा होती है, वह अपने में अपूर्व होती है । मानवीय इतिहास का यही सबसे बड़ा सबक है । हरएक परिस्थिति नयी होती है । इसीलिए पुरुषार्थ के लिए अवसर है । केरल में एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गयी है । उस परिस्थिति में सभी पक्षों के लिए अपनी-अपनी बुद्धि और व्यवहार-कुशलता का प्रयोग करने का अवसर है । परन्तु कार्य-कुशलता की सबसे बड़ी शर्त यह है कि हमारा उद्देश्य और हमारी भावना व्यापक हो । भगवद्गीता ने 'क्रिया-कुशलता' का अर्थ 'योग' किया है और योग का अर्थ बतलाया है, 'समत्व' । जहाँ हरएक व्यक्ति और हरएक पक्ष अपनी ही सत्ता प्रस्थापित करने की फिक्र में है, वहाँ न समत्व हो सकता है, न कुशलता हो सकती है। लोक-कल्याण के लिए भी पक्ष का सहयोग असंभव हो जाता है । यदि प्रत्यक्ष संघर्ष न होता हो, तो उसका कारण इतना ही है कि संघर्ष सबके लिए समान हानिकारक समझा जाता है । आज हाइड्रोजन बम गिराने में सभी हिचकते हैं, क्योंकि उसमें सभी की समान हानि है।

प्रतिपक्षियों का अकरणात्मक सहयोग

केरल-राज्य में कुछ ऐसा ही हो रहा है। वहाँ प्रजा-समाजवादी पक्ष ने अपनी सरकार कायम की है। लेकिन वह सरकार न तो संयुक्त सरकार है और न सहयोगात्मक सरकार है । वह सरकार अविरोध के सिद्धान्त पर बनी है । सरकार बनाने का सवाल जब पेश हुआ, तो प्रजा-समाजवादी दल के नेता ने कहा, कि हम किसीके साथ सरकार बनाने को तैयार नहीं हैं । प्रजा-समाजवादी पक्ष ने चुनाव में कांग्रेस का विरोध करने के लिए, कम्युनिस्ट-प्रमुख अन्य पक्षों से अविरोध की नीति अख्तियार की। जहाँ-तहाँ अप्रत्यक्ष सहयोग भी किया। इसलिए कांग्रेस के भरोसे या कांग्रेस के साथ सरकार कायम करना प्रजा-समाजवादी पक्ष ने अपनी शान के खिलाफ समझा । उस पक्ष के नेता ने यह कहा कि हमारी

चुनाव की नीति की सारी बुनियाद ही तो कांग्रेस के विरोध पर रखी गयी थी। अब हम कांग्रेस के साथ सहयोग कैसे कर सकते थे। कम्युनिस्ट प्रभृति के साथ हमने चुनाव में अप्रत्यक्ष सहयोग किया। लेकिन उनकी नीति और हमारी नीति में उत्तर-दक्षिण ध्रुव की विरोध है। इसलिए उनके साथ भी हम सरकार नहीं बना सकते और न उनके भरोसे सरकार बनाना चाहते हैं । यह सब कह चुकने के बाद एक टिप्पणी यह जोड़ दी कि दूसरे पक्ष यदि हमें सरकार बनाने देंगे या काम करने देंगे तो हम सरकार बनायेंगे। मामूली मनुष्य की बगैर घुमाव-फिराव की भाषा में इसका मतलब यह है कि प्रजा-समाजवादी पक्ष की सरकार दूसरे पक्षों के अकरणात्मक सहयोग पर बनी है।

गहन पक्ष-लीला

आज तक की पार्लमेण्टरी परंपरा यह रही कि जिस पक्ष का बहुमत हो, उसकी सरकार बने और किसी पक्ष का बहुमत न हो तो दो या अनेक समान वृत्ति के पक्ष अपनी संमिश्र सरकार बनायें । केरल में जो हुआ है, वह इन दोनों परिपाटियों से एकदम भिन्न है । वहाँ प्रजा-समाजवादी पक्ष का बहुमत नहीं है। इतना ही नहीं, उसके सदस्यों की संख्या भी दूसरे पक्षों की अपेक्षा अधिक नहीं है। सदस्यों की संख्या कांग्रेस की सबसे अधिक है और शायद उसके बाद कम्युनिस्ट प्रभृति संयुक्त मोर्चे का प्रश्न आता है। अर्थात् केरल-राज्य में एक अल्पसंख्यक पक्ष की सरकार स्थापित हुई है। दूसरी मजे की बात यह है कि हरएक पक्ष कहता है कि जनता हमारे साथ है । तीनों जबर्दस्त सफलतावादी हैं। उनमें से एक भी अपनी सफलता का हिसाब नहीं लगाता। सब कहते हैं कि पिछली बार से अब की दफा हमें कम असफलता मिली है। इसके सबूत में सबने आँकड़े पेश किये हैं । इसीलिए सभी पक्ष सफल हुए हैं । और असफल भी हुए हैं। साधारण मनुष्य के लिए यह परिस्थति अपूर्व ही नहीं, अगम्य है। पक्ष-लीला और भगवान् की लीला में अब अधिक अंतर नहीं रह गया है।

खिलाड़ीपन की जरूरत

हमें आश्चर्य इस बात का है कि अगर सब अविरोधी भूमिका तक आ सकते हैं, तो एक कदम आगे रख कर सहयोग की भूमिका पर क्यों नहीं आ सकते ? एक बात स्पष्ट है कि मूलगामी या सैद्धांतिक भेदों की दुहाई नाहक दी जा रही है। संयुक्त मोर्चेवाले इसलिए रूठे हैं कि कांग्रेस ने प्रजासमाजवादी पक्ष को अविरोध का आश्वासन दिया । इसका मतलब यह हुआ कि प्रजासमाज-वादियों के साथ संयुक्त मोर्चेवाले सहयोग करने के लिए उत्सुक थे । अगर मूलगामी तात्त्विक विरोध होता तो इस सहयोग के लिए वे तैयार कैसे होते ? कांग्रेस ने अपनी तरफ से सहयोग का आश्वासन दिया। लेकिन उसका स्वीकार करना प्रजासमाजवादी पक्ष ने अपने लिए अनुपयुक्त समझा, क्योंकि चुनाव में सारी पैंतरेबाजी और व्यूह-रचना कांग्रेस को हराने की दृष्टि से हुई थी। असल में चुनाव का विरोध चुनाव के साथ खत्म हो जाना चाहिए या चुनाव का विरोध चुनाव के बाद लोक-कल्याण के काम में रुकावट डाले, यह किसी के लिए शुभ लक्षण नहीं है, इसलिए विनोबा कहा करते हैं कि चुनाव खेलो, चुनाव लड़ो मत। हमारे यहाँ चुनाव 'लड़े' जाते हैं, अमेरिका में चुनाव 'दौड़े' जाते हैं । जिस तरह घुड़-दौड़ में घोड़ा की दौड़ होती है, उसी तरह चुनावों में उम्मीदवारों की दौड़ होती है । हमारे यहाँ चुनाव एक लड़ाई है, और वहाँ दौड़ की प्रतियोगिता है, टूर्नामेंट है । विनोबा का कहना है कि चुनाव में वातावरण खिलाड़ीपन का होना चाहिए, जिससे चुनाव के बाद कटुता का वातावरण न रहे।

भयानक अन्तर-विरोध

केरल में सभी पक्ष अपने को सफल इसलिए संमझते हैं कि वहाँ चुनावों में मोर्चेबन्दी और व्यूह-रचना में सीधा निर्णय करने का अवसर जनता को नहीं मिला। जनता कांग्रेस से खुश नहीं है, मौजूदा शासन से तंग आ गयी है, अब वह परिवर्तन चाहती है। वस्तुस्थिति

ऐसी है, परन्तु चुनाव में इसके प्रमाण नहीं मिलते । प्रचलित लोकतंत्र का यह बहुत भयानक अन्तर-विरोध है। लोगों की मन:स्थिति और चुनाव के नक्शे में कोई मेल नहीं रह गया है। इसीलिए इस तरह की विचित्र परिस्थिति पैदा हुई है। इन चुनावों में सबक सीख कर अगर सभी पक्ष लोकमत को व्यक्त होने का मौका दें, तो लोक-जागृति और लोक-शिक्षण, दोनों के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण हो सकेगा।

सार्वपक्षीय कार्यक्रम

आंध्र और केरल के प्रकरणों के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि आज की परिस्थिति में से पक्षहीन लोकसत्ता की आकांक्षा प्रकट हो रही है। पक्षों में जनता का विश्वास अब नहीं रह गया है। लोग अपनी समस्याओं का हल चाहते हैं। वे किसी भी पक्ष की हुकूमत नहीं चाहते हैं। परन्तु पक्षों की नीयत कुछ और है। उन पर एक-दूसरे को परास्त करने की धुन सवार है। केरल में सभी पक्षों ने एक-दूसरे को हराया। सब हारे और सब जीते। अब तो सर्वपक्षीय राज्य होना चाहिए था। लेकिन हुआ प्रजा समाजवादी पक्ष का राज्य। इसका कारण स्पष्ट है। परिस्थिति में यह आकांक्षा है कि जनता की गरीबी और बेकारी की समस्या शीघ्र हल हो, और वह जनतंत्र के मार्फत हो । कांग्रेस के शासन का अनुभव जनता की आशा बढ़ानेवाला नहीं है । वह कांग्रेस से असंतुष्ट है । जनतंत्र के द्वारा समस्या हल करने की प्रक्रिया में विश्वास करनेवाला दूसरा पक्ष समाजवादी पक्ष है। इसलिए उसकी सरकार बनी। इसमें कांग्रेस ने समझदारी दिखाई और प्रजा-समाजवादी पक्ष ने हिम्मत की । परन्तु प्रजा-समाजवादी संयुक्त मोर्चा और कांग्रेस, इनमें अगर सिर्फ अविरोध की ही नकारात्मक नीति रही तो उसका परिणाम जल्दी ही एक-दूसरे की टाँग खींचने में होगा। आज सवाल एक-दूसरे पक्ष की शक्ति क्षीण करने का नहीं है। सवाल है, जनता को प्रत्यय दिलाने का । जनतांत्रिक शासन में लोगों का विश्वास और अभिरुचि बढ़े इसकी चिन्ता सभी पक्षों को लेनी चाहिए । यह सभी पक्षों के लिए सार्वपक्षीय कार्यक्रम हो सकता है।

सेंध लगाने की नीति

इसमें एक अपवाद है । कुछ लोग ऐसे हैं, जो विधान-सभाओं को पूँजीवादी व्यवस्था के दुर्गम कोट समझते हैं। वे उनमें नकब लगाना चाहते हैं । उनके पार्लमेण्टरी कार्यक्रम का यही मुख्य उद्देश्य है । प्राचीन ग्रीस में ट्रांस नगर में प्रवेश पाने के लिए इसी तरह की तरकीब निकाली गयी थी। काठ का एक बहुत बड़ा घोड़ा बनाया गया और उसके भीतर छिप कर चोरी से नगर में सैनिक दाखिल हो गये। सन् १९२३ में पं. मोतीलालजी नेहरू और देशबन्धु दास ने अपनी कौंसिल-प्रवेश-नीति का ऐसा ही वर्णन किया था। उन्होंने कहा कि हम साम्राज्यवाद के इस दुर्ग में सेंध लगाना चाहते हैं। उसको भीतर से गिराना चाहते हैं । विधान-सभाओं को पूँजीवाद के किले समझकर उनमें सेंध लगाने के लिए जो लोग चुनाव का उपयोग करना चाहते हैं; उनकी नीति का विचार इस सन्दर्भ में अप्रस्तुत है।

सम्मिलित पुरुषार्थ का सुयोग

हमको यह मान लेना चाहिए कि केरल राज्य में जितने पक्ष चुनाव में शामिल हुए, वे सब विधान-सभा का उपयोग लोगों की समस्याएँ हल करने के लिए करना चाहते हैं। उनको आज उसके लिए अवसर है । प्रजा-समाजवादी पक्ष का तो यह विश्वास भी है। आज की विधान-सभाओं का उपयोग एक बहुत बड़ी हद तक लोक-कल्याण के लिए किया जा सकता है। उसे कम्युनिस्ट पक्ष की परोक्ष सम्मति और कांग्रेस की अप्रत्यक्ष सहायता के आधार पर अपना काम करना पड़ेगा। हर हालत में जब उस पक्ष को अपने प्रतिपक्षियों के अविरोधात्मक सहयोग की आवश्यकता रहेगी । तब सवाल यह है कि ये सभी पक्ष अपनी-अपनी शक्तियाँ एक-दूसरे की शक्ति में मिला कर सम्मिलित पुरुषार्थ का रास्ता प्रशस्त क्यों नहीं करते ? क्या जन-कल्याण के ऐसे प्रश्न नहीं हैं, जिन पर सभी पक्षों का प्राय: एकमत है ? शहर में कहीं आग लग जाय तो उसे बुझाना किसी पक्ष का सवाल नहीं है।

पानी का दुरभिक्ष हो, तो उसका निराकरण करना मतभेद का प्रश्न नहीं हो सकता। इस देश के सभी पक्षों ने भूमि के पुनर्वितरण के विषय में अपना-अपना संकल्प घोषित कर दिया । यह भी सब पक्ष मानते हैं कि जहाँ तक एशिया खण्ड का सवाल है, आर्थिक क्रांति का आरम्भ जमीन के बँटवारे से ही होगा। जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े हों या बड़े-बड़े इसके विषय में भी कोई बहुत बड़ा सैद्धांतिक मतभेद नहीं है। ऐसी स्थिति में जमीन के विषय में अपनी नीति कार्यान्वित करने के लिए केरल प्रजा-समाजवादी सरकार को तुरन्त कदम उठाना चाहिए। और दूसरे सारे पक्षों को उस नीति की सफलता के लिए अपनी पूरी ताकत लगा देनी चाहिए।

परिस्थिति का इंगित

वैधानिक परम्परा की दृष्टि से केरल की यह परिपाटी कुछ अटपटी मालूम होती है । वहाँ न बहुमत का शासन है और न सम्मिलित शासन ही है ।'मुरारेस्तृतीयः पंथाः' है। अल्पमत की सरकार को अन्य पक्षों की सद्भावना में विश्वास रखना पड़ रहा है। इस परिस्थिति में पक्षों के पारस्परिक सहयोग के विकास के बीज छिपे हुए हैं, ज्यों-ज्यों सर्वसम्मत क्षेत्रों में पक्षों का पारस्परिक सहयोग बढ़ेगा, त्यों-त्यों पक्ष-सत्ता का ह्रास व लोक-सत्ता का विकास होगा। क्या हमारे देश के प्रमुख पक्ष-परिस्थिति के इस इंगित को पहचानेंगे ?

२-४-१९५४

१४. हृदय-परिवर्तन और कालावधि की मर्यादा

परिस्थिति का महत्त्व

जब यह कहा जाता है कि गांधीजी का रास्ता हृदय-परिवर्तन का रास्ता है, तो बड़े-बड़े विचारशील लोग भी उसे एक अनन्त काल तक चलनेवाली प्रक्रिया समझते हैं । एक दृष्टि से यह सच भी है । जब तक मनुष्य के हृदय है और जब तक विकास के लिए अवसर है, हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया तब तक अवश्य चलेगी । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हृदय-परिवर्तन का देशकाल-वर्तमान से कतई सम्बन्ध नहीं है। जब हम विशिष्ट समस्या को लेकर हृदय-परिवर्तन के द्वारा परिस्थिति में परिवर्तन करना चाहते हैं, तब उस परिस्थिति की मर्यादाएँ एक हद तक हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया के लिए भी लागू होती हैं।

हृदय-परिवर्तन और कालतत्त्व

एक ऐतिहासिक उदाहरण ले लीजिये । अंग्रेजी राज्य के जमाने में सुप्रसिद्ध इतिहासकार सर जॉन सिली ने लिखा था कि जो देश ज्यादा दिन गुलामी में रहता है, उसका नैतिक पतन होता है। इस पर दीनबन्धु एंड्रयूज ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत को तुरन्त आजाद होना चाहिए, अन्यथा उसकी नैतिक अवनति का कोई ठिकाना नहीं रहेगा। गांधीजी ने कहा, “आजादी फौरन हासिल करनी चाहिए। लेकिन उसके लिए अंग्रेजों के हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है।" इसलिए गांधीजी ने अहिंसात्मक प्रतिकार के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने का बीड़ा उठाया। जिस परिस्थिति में वे हृदय-परिवर्तन का प्रयोग करना चाहते थे, उसमें शीघ्रता की सबसे अधिक आवश्यकता थी। अर्थात् कालावधि के तत्त्व का हृदय-परिवर्तन के साथ अभेद्य सम्बन्ध था। शीघ्रता की आवश्यकता के कारण गांधीजी की उत्कटता बढ़ती थी और उसका परिणाम सामनेवाले पर होता था। हृदय-परिवर्तन में काल-तत्त्व भी इस प्रकार प्रेरणा का साधन बन जाता है।

एक अखबार का विचारणीय प्रश्न

भूदान-यज्ञ में विनोबा ने १९५७ तक की काल-मर्यादा निर्धारित कर दी। इस देश के एक बहुत वजनदार विचार-पत्र ने यह गम्भीर प्रश्न उपस्थित किया है कि "क्या किसी नियत मियाद में हृदय-परिवर्तन हो सकता है ? कभी आदमी का दिल, घड़ी की सुई देखकर बदलता है ? एक तरफ तो आप नियत अवधि में अपना भूमि का लक्ष्यांक पूरा करना चाहते हैं और दूसरी तरफ मौके-बे-मौके हृदय-परिवर्तन का दम्भ भरते हैं। यह कुछ असंगत-सा मालूम होता है।"

प्रश्न जितना गम्भीर, उतना ही चिंतनीय है। हमने उसका अनुवाद कुछ मुँह-फट भाग में उपस्थित किया है। उक्त पत्र ने प्रश्न बहुत सौजन्यपूर्ण भाषा में उपस्थित किया है। हम उसका जवाब नहीं दे रहे हैं। यहाँ सवाल जवाब की वृत्ति अप्रासंगिक होगी। इस प्रश्न को लेकर हम थोड़ा-सा गम्भीर चिंतन करें।

अन्तिम क्षण में हृदय-शुद्धि

एक व्यक्ति से हमारा वैर उम्रभर रहा है। वह अब तपेदिक से बीमार है। मृत्यु करीब आ गयी है। दोनों के एक सामान्य मित्र हमारे पास आये हैं और कहते हैं, "आज वैर भूलने का मौका है । वह मर रहा है । अब वैर कहाँ भुँजाओगे ? मरने से पहले वह तुमसे गले मिलना चाहता है। चलोगे ? सोचने के लिए समय नहीं है । दो घड़ी का मुहूर्त है ।" उसकी बातें मेरी आत्मा को मथ डालती हैं और दौड़ पड़ता हूँ। खाट पर लेटे हुए उस व्यक्ति से लिपट जाता हूँ। कया यहाँ काल-तत्त्व हृदय-परिवर्तन में प्रेरक नहीं हुआ ? महाराष्ट्र के दो दिग्गज नेता, लोकमान्य तिलक और सुधारक मुकुट-मणि आगरकर आजन्म प्रतिपक्षी रहे परन्तु जब आगरकर का अन्तकाल समीप आया, तो दोनों ने एक-दूसरे का आलिंगन किया।

तीव्रता का परिणाम

हृदय-परिवर्तन के आंदोलन में भी एक लक्ष्य और समय की निर्धारित अवधि, आंदोलन में वेग या तेजी का तत्त्व दाखिल करने के लिए होती है । जब निश्चित मुहूर्त और संख्या का लक्ष्य सामने होता है, तो हमारी तीव्रता बढ़ती है, और उसका प्रभाव सामनेवाले के हृदय पर होता है । शीघ्रता का महत्त्व उसकी बुद्धि भी ग्रहण कर लेती है और उसके बौद्धिक प्रत्यय का परिणाम हृदय की भावना बदलने में होता है।

प्रपीड़ित अवस्था में कालावधि का महत्त्व

मनुष्य की जिंदगी नपी-तुली है। हम कितने दिन जीयेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं है। इसलिए सारे धर्माचार्य कहते हैं कि धर्माचरण में सुस्ती मत करो। धर्माचरण इतनी फुर्ती से करो कि मानो मौत चोटी पकड़े खड़ी हो। जो दुखी है, दरिद्र है, प्रपीड़ित है और प्रवंचित है, उसे धीरज नहीं होता। उससे दर्द नहीं सहा जाता। उसे जल्दी है। इसीलिए जल्दी का यह तत्त्व हमारे प्रयत्न में दाखिल हो जाता है। वही कालमर्यादा और मुहूर्त का रूप ले लेता है।

जिस प्रकार का दुःख हमें दूर करना है, उसका कोई गहरी प्रत्यक्ष प्रतीक चाहिए। वही आँकड़े के लक्ष्य रूप में सामने रखा जाता है। पाँच करोड़ का आँकड़ा उपलक्षण है। इस समस्या को लेकर हृदय-परिवर्तन का प्रयास हम कर रहे हैं, उसका वह चिह्न है। यह कोई नहीं कहता कि घड़ी की सूई को देखकर हमारी मर्जी के मुताबिक हृदय-परिवर्तन होगा। इतनी स्थूल बुद्धि इस आंदोलन के पीछे नहीं है । हृदय-परिवर्तन की साधना में भी प्रतीकों का महत्त्व कम नहीं है। निश्चित कालावधि और निश्चित लक्ष्यांक ये दोनों ऐसे प्रतीक हैं, जो हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया में वेग की भावना जागृत करते हैं।

३-४-१९५४

१५. स्वतंत्रता का मूल्य

जनतंत्र का रक्षण

'निरंतर जागरूकता स्वतंत्रता की कीमत है । यह सूत्र जितना पुराना है, उतना ही सत्य है । दैवयोग से हमारे देश का इतिहास इसके बिलकुल प्रतिकूल रहा है। बौद्धिक सावधानता और राजनैतिक जागरूकता का अभाव हमारा सबसे बड़ा दोष रहा है। आज जब कि चारों तरफ से बादल घिर रहे हैं, जागरूकता की और भी अधिक आवश्यकता है । आज तक यूरोप के देशों का प्रभुत्व एशिया में किसी-न-किसी रूप में बना रहा। वह अब नष्ट हो रहा है। परन्तु उसकी जगह अमेरिका का प्रभुत्ववाद दबे पाँव आगे बढ़ रहा है। अमेरिका का उद्देश्य सारी दुनिया में से कम्युनिज्म को खतम करना है । जिस जीवन-पद्धति की प्रवर्तक और संरक्षक, अमेरिका अपने-आप को समझता है, उस पर साम्यवाद कुठाराघात करता है । साम्यवाद का कदम एशिया में जम रहा है, इसलिए एशिया की तरफ अमेरिका विशेष ध्यान दे रहा है। यदि दरअसल अमेरिका जनतंत्र को सुरक्षित रखना चाहता हो, तो उसे एशिया में भारतवर्ष के साथ मित्रता का नाता कायम रखना चाहिए, कौन नहीं जानता कि अगर भारत में जनतंत्र साबित रहता है, तो जनतंत्र जीयेगा, अन्यथा जनतंत्र के लिए कोई आशा नहीं है।

हमारी सरकार का मर्म-स्थल

बहुत से अमेरिकन राजनीतिज्ञ इस तथ्य को जानते और मानते हैं । लेकिन आज अमेरिका पर जनतंत्र की हिफाजत के बदले साम्यवाद को हराने की धुन ज्यादा सवार है । साम्यवाद का सामना करने के लिए जनतंत्र की बलि देनी पड़े तो भी वह उसमें आनाकानी नहीं करेगी । इसीलिए अमेरिका ने तुर्किस्तान से लेकर पाकिस्तान तक का एक काफी

लंबा इलाका अपने हाथ में रखने की चाल चली है। ऊपर से प्रेसिडेण्ट आयसेन हॉवर भारत से कहते हैं कि अगर तुमको किसी तरह की मदद की जरूरत हो और तुम अपनी दरख्वास्त पेश करना पसंद करो, तो मैं यकीन दिलाता हूँ कि हम जरूर गौर फरमायेंगे। हानि में अपमान को मिला दिया है। जिसके पास ताकत है, उससे विनय और विवेक की आशा करना हमारी भी हिमाकत ही है । हमारे प्रधान मंत्री ने इस परिस्थिति में जिस शानदार और संयमपूर्ण नीति की घोषणा की है, उससे भारतवर्ष के हरएक नागरिक को अपने कर्तव्य का बोध लेना चाहिए। किन्तु इस परिस्थिति में सरकार के लिए भी एक जबरदस्त चुनौती है । हमारी अन्तर्गत परिस्थिति में सबसे कमजोर कड़ी मौजूदा सरकार की जमीन-सम्बन्धी नीति है। बहुत स्पष्ट शब्दों में आज की परिस्थिति मानो हमसे पूछ रही है कि चीन की कम्युनिस्ट सरकार जो कर सकी वह सब क्या भारत की जनतांत्रिक सरकार भी कर सकती है ? अगर कर सकती हो, तो वह जनता की विश्वासपात्र रहेगी और अगर न कर सकी तो जनतंत्र में भूखी और दरिद्री जनता का विश्वास कदापि नहीं रह सकेगा। हमारे प्रधान-मंत्री ने इस अवसर पर जनता की सम्मिलित शक्ति का आवाहन किया है। परन्तु जिन लोगों के लिए आज भी जिन्दगी सजा हो रही है, उनको जोश दिलाना सिर्फ नशे में ही हो सकता है। इससे जन-शक्ति का निर्माण नहीं हो सकता। वादोन्माद और धर्मावेश की बिना पर थोड़े समय के लिए जोश पैदा किया जा सकता है। लेकिन उसमें से लोक-शक्ति पैदा नहीं होती । बहुत हुआ तो सरकार अपने वैरियों का मुकाबला कर सकती है । जनतंत्र की हिफाजत के लिए इतना काफी नहीं है। यह बात अब दूरदर्शी अमेरिकनों की समझ में भी आने लगी है। वे यह महसूस करते हैं कि चीन ने जो कर दिखाया, भारत को वह कर दिखाना चाहिए। हाल ही में अमेरिका के भारतीय राजदूत, श्री चेस्टर बोल्स ने एक किताब लिखी है, जिसका नाम है, 'एलची की कैफियत—‘An Ambassador’s Report ।’ उन्होंने बहुत साफ शब्दों में कहा है कि नेहरू-सरकार का मर्मस्थल जमीन-सम्बन्धी नीति

है। एशिया में जमीन की भूख परिस्थिति का एक कठोर सत्य है। उसकी तरफ से आँख बन्द करने में सारी दुनिया को खतरा है । क्योंकि भारत का संरक्षण जनतंत्र की दृष्टि से आज सारी दुनिया का प्रश्न है । अमेरिका को कम्युनिज्म के विरोध का कैफ चढ़ा हुआ है। उसे इस बात का खयाल नहीं है, तो क्या हमें भी न हो ? एक अमेरिकन राजदूत हमारे प्रधान मन्त्री को समय रहते सावधान कर रहा है।

जनतंत्र की सामर्थ्य की परीक्षा

उस दिन व्यापारियों की अखिल भारतीय समिति में भाषण करते हुए जवाहरलालजी ने कहा कि हमको आत्मनिर्भर रहना चाहिए। यह सबक सीखने के लिए पहले महायुद्ध के मौके पर यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों को जबरदस्त कीमत देनी पड़ी थी। उसके बाद आर्थिक स्वयंपूर्णता का नारा वहाँ पर बुलंद किया गया। भारत को दूसरों के अनुभव से होशियार हो जाना चाहिए। जवाहरलालजी के भाषण में इस बात पर बहुत जोर दिया गया है। फिर भी भूमि की समस्या तुरंत हल करने के लिए कोई कदम क्यों नहीं उठाया जाता, यह अचरज का विषय है । चांग-कै-शेक ने फार्मोसा में तीन-चार साल बाद भूमि-सम्बन्धी जो कदम उठाये, वह अगर तीन-चार साल पहिले उठा लिये होते, तो शायद चीन का आधुनिक इतिहास कुछ और ही होता। आखिर माओ के बाद चांग-कै-शेक को भी उसी रास्ते जाना पड़ा । जापान में भूमि का वितरण हुआ। लेकिन अमेरिकन सेनापति मैक आर्थर की कलम की एक लकीर से हुआ । उसमें जापान की अपनी सरकार या वहाँ की जनता की कोई बहादुरी नहीं थी । दुनिया का आधुनिक इतिहास तो यही बतलाता है कि अब तक जनतंत्र के द्वारा भूमि की समस्या का समाधान किसी देश में नहीं हुआ।

१९५२ के चुनावों का सबक

हमारे अपने देश का ही अनुभव ले लीजिये। १९५२ के सार्वत्रिक चुनावों में तेलंगाना के प्रतिनिधि कम्युनिस्ट नेता, श्री नारायण रेड्डी को सारे देश में व्यक्तिश: सबसे अधिक वोट मिले । इसका एकमात्र कारण यही है कि थोड़ी-सी जमीन का बँटवारा कम्युनिस्टों ने किया था। इस घटना में हम सबके लिए बहुत बड़ा पाठ है। अमेरिका के उपर्युक्त राजदूत ने तेलंगाना का दृष्टांत देते हुए यह भी कहा है कि एशिया में जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाने से किसी तरह का नुकसान होने की संभावना नहीं है।

सारांश यह है कि भारतवर्ष के संरक्षण का सम्पूर्ण आशय लोगों के ध्यान में रहना चाहिए। हमें अपना देश केवल बाहरी आक्रमण से नहीं बचाना है, बल्कि हमें अपने जनतंत्र का भी संरक्षण करना है । हमारे प्रधान मंत्री और दूसरे सभी नेताओं ने कहा है कि इसके लिए सिर्फ सैनिक-शक्ति पर्याप्त नहीं है। हमारा निवेदन है कि हमारे नेता समय रहते सचेत हो जायँ और भूमि की समस्या को हल करने का जो ऐतिहासिक प्रयास इस देश में हो रहा है उससे अविलम्ब लाभ उठायें ।

१०-३-१९५४

५. आन्तर्राष्ट्रीय

१. **यूनो की सालगिरह**

२. **यूनो की नीयत पर शक**

३. **यूनो की वर्षगाँठ**

४. **गृहयुद्ध विश्वयुद्ध में परिणत न हो**

५. **युद्धवाद का मूल स्त्रोत**

६. **ऐटली की जगह चर्चिल**

७. **विश्वशांति का मखौल**

८. **छोटे राष्ट्रों की दुर्दशा**

९. **जागतिक शान्तिपाठ की वास्तविकता**

१०. **बेरिया कांड**

११. कश्मीर का मामला

१२. **विश्वशान्ति का मार्ग**

१३. **स्वागत**

१. यूनो की सालगिरह

नींद और समाधि का अन्तर

निद्रा के लिए पारिभाषिक शब्द 'सम्प्रसाद' है। कहा जाता है कि नींद में हमारा चित्त आत्मा के बहुत निकट पहुँच जाता है। सिर्फ उसे इस बात का बोध नहीं होता कि वह आत्मानन्द अनुभव कर रहा है। नींद में और समाधि में यह मूलभूत अन्तर है । अबोध-युक्त शान्ति का नाम नींद है । बोधयुक्त सामंजस्य-पूर्ण शान्ति का नाम समाधि है। मनुष्य की प्राकृतिक प्रेरणाओं में से शान्ति की खोज, चित्त की समता की आकांक्षा, एक स्वास्थ्यकारी और कल्याणकारी प्रेरणा है। यह प्रेरणा व्यक्तिगत है और सामुदायिक भी। इसीलिए छोटे-बड़े सभी राष्ट्र शान्ति की खोज में व्यस्त हैं । लेकिन शान्ति, न मालूम किस अन्धेरी गुहा में या कैलाश-शिखर की किस दुर्गम कन्दरा में, छिपी पड़ी है । इतने उद्योगशील और तगड़े राष्ट्रों के अविरत शोध के बाद भी उसकी झाँकी नहीं दिखाई देती, या तो शान्ति साधारण मनुष्य के लिए अप्राप्य है। या फिर हमारी प्रकृति में ही कोई ऐसी खराबी पैदा हो गयी है, जिसके कारण हम उसका आविष्कार नहीं कर पाते।

दो दृष्टान्त

आदमी रात से दिन को अधिक पसन्द करता है । सुषुत्ति की अपेक्षा जागृति उसे अधिक प्रिय है। परन्तु जिसे नींद नहीं आती, वह बेचैन रहता है। नींद के लिए तरसता रहता है, यहाँ तक कि नशे की और मूर्च्छा की दवाएँ खाता रहता है। इसीलिए हम निद्रानाश को एक रोग समझते हैं और उसके निवारण के लिए अनन्त उपचार करते हैं । विनोबा के मझले भाई बालकोबा एक पुराने मरीज हैं । एक दिन विनोबा से बोले "मैं रातभर कोशिश करता रहा, लेकिन नींद नहीं आयी ।" विनोबा ने कहा, 'इसमें कौन-सी अचरज की बात

है? रातभर जब तुम कोशिश करते रहे तो नींद को आने के लिए मौका ही कहाँ मिला ? या तो कोशिश ही होती या नींद ही आती ।'

एक दूसरा दृष्टान्त भी है। एक आदमी बड़ा शौकीन, बड़ा विलास-प्रिय था। खाने-पीने के बरतन, सजावट का सामान आदि सारी बातों में उसकी अपनी विशेष रुचि थी, और वह बड़ी सावधानी के साथ इन चीजों का ध्यान रखता था। बिस्तर भी उसे खास तरह का पसन्द था और अक्सर अपने हाथों बिस्तर लगाता था। एक दिन उसने चादर पर शिकनें देखीं, कुछ वक्त उनको ठीक करने में निकल गया। थोड़ी देर के बाद एक खटमल दिखाई दिया। नींद मुहाल हो गयी। सारी रात बिस्तर झटकने में और डी. डी. टी. की पिचकारियाँ मारने में बीत गयी ।

माया-दीप

ये दो दृष्टान्त शान्ति-स्थापना की हमारी सारी चेष्टाओं पर लागू होते हैं। शान्ति की स्थापना के लिए हमने जिन साधनों का आश्रय किया है, वे या तो अपर्याप्त हैं या विषम हैं, इसलिए शान्ति की साधना में व्यग्रता ही पड़ रही है। खोज शान्ति की है, किन्तु वह शान्ति 'विलो द-विस्प' की तरह—'माया दीपक' की तरह हमारी पकड़ से खिसकती जा रही है। कारण यह है कि हम गलत तरीकों से काम ले रहे हैं। सिर्फ बाह्य उपचार काफी नहीं हैं, जरुरत खाने की दवा की है।

व्यवहारवादियों का व्यर्थ प्रयास

'यूनो' नामक आन्तर्राष्ट्रीय संस्था चार वर्षों से शान्ति के लिए अनुष्ठान कर रही है। अपनी जगह वह उपयोगी भी है, लेकिन उसमें कुछ गम्भीर दोष और त्रुटियाँ हैं, जबरदस्त कमियाँ और खामियाँ हैं । सबसे बड़ा और मूलभूत दोष यह है कि शान्ति का आधार भय और धाक है।

'शक्ति के सन्तुलन' के आधार पर शान्ति स्थापित करने की व्यर्थ चेष्टा इससे पहले कई राष्ट्रों ने की, लेकिन परस्पर-सद्भाव के बिना वह सफल कैसे हो सकती थी ? दो व्यक्ति अगर एक-दूसरे से घबराते रहें तो उनमें झड़पा-झड़पी भले ही न हो, मगर वे दोनों मन ही मन जलते रहेंगे, उनके शरीर में कँपकँपी होगी, मन में थर्राहट होगी। केवल रगड़-झगड़ के अभाव का, भय की बेहोशी का नाम शान्ति नहीं है। कुटुम्ब में या पाठशाला में बाप के या मास्टरजी के डर से शान्ति होती है। एक-दूसरे से लड़ने के लिए उत्सुक लड़के भी डर के मारे अपने-आप को रोक लेते हैं। इसीलिए कुछ व्यवहार-चतुर लोग कहते पाये जाते हैं कि 'भय बिनु होत न प्रीत' और दूसरे कहते हैं कि 'दण्डस्य भयात्' शान्ति रहती है। मतलब यह कि व्यवहारवादी लोगों के मत से भीति के आधार पर ही शान्ति और प्रीति की प्रस्थापना की जा सकती है। इसीलिए शान्ति के शोध में और शान्ति-स्थापना के प्रयास में ही सारा समय बीत जाता है, शान्ति का कहीं पता भी नहीं लगता।

प्रतिष्ठा के गलत आधार

पिछले महायुद्ध में अमेरिका ने अणुबम का भंडार हलाहल प्रगट किया। रूस और दूसरे बलवान् राष्ट्र सहम गये। अब यह आशंका है कि इसी तरह का क्षिप्र संहारकारी-हलाहल रशिया के पास भी है। इसलिए अब विरोधी खेमे में भी डर पैदा हो गया है। इस तरह एक-दूसरे से डरनेवाले पक्ष चुपचाप भले ही रहते हों, लेकिन वे दुबक कर बैठते हैं और घात की ताक में रहते हैं। उनकी धाक की सबब से दूसरे छोटे-मोटे राष्ट्र सिटपिटा कर चुपचाप बैठे रहते हैं। इन छोटे राष्ट्रों में कोई चखचख हो जाय तो उनमें से कोई एक पक्ष यूनो की पनाह लेता है और उसका निर्णय मानने को भरसक कोशिश भी करता है। लेकिन प्रथम श्रेणी के बलवान् राष्ट्र यूनो की तनिक भी पर्वाह नहीं करते । यूनो जैसे शान्ति के उपकरण उनके मनोविनोद के और सत्ताविलास के साधन हैं। यूनो के कारण उनकी प्रतिष्ठा

नहीं है। उनके कारण यूनो की प्रतिष्ठा है। और उनकी प्रतिष्ठा का आधार हिंस्रता तथा भयानकता है।

सत्तावाद का प्राणरहित उपकरण

यूनो के उद्देश्य और मन्तव्य, उसके मकसद और इरादे, उदात्त हैं, महनीय हैं। लेकिन उसके तरीके और परिस्थिति सर्वथा विषम हैं। अंग्रेजी में कहावत है, 'नरक का रास्ता अच्छे इरादों से पटा हुआ है।' आज अच्छे इरादों का पटाव युद्ध के और साम्राज्यवाद के मार्ग को प्रशस्त कर रहा है। धर्म, नीति और सद्गुण के आधार के बिना उत्तान सत्तावाद भी सफल नहीं होता। धर्म, नीति और सदाचार का उपयोग सत्तावाद उपकरण की तरह कर लेता है। इन तत्त्वों की सान पर वह अपने सारे हथियारों को धार लगाता है। सत्ता की राजनीति के खेल में यूनो का उपयोग एक पैंतरे की तरह किया जाता है। अल्प-प्राण और अल्प-शक्ति राष्ट्रों के लिए वह संस्था थोड़ी-बहुत उपकारक भले ही हुई हो, लेकिन शान्ति-स्थापना के साधन के रूप में उसका उपयोग बहुत ही परिमित है।

एक रस्म-अदाई

फिर भी एक निरन्तर आशास्थान है। शान्ति की प्रेरणा मनुष्य की एक अदम्य प्रेरणा है। वह शान्ति के लिए तड़पता है, छटपटाता है। यहाँ तक की युद्ध भी शान्ति के नाम पर करता है। बिना शान्ति के उसे स्वस्थता नहीं, समाधान नहीं। इसीलिए संसार के राजनेता और राजनीतिज्ञ हर युद्ध के बाद शान्ति-स्थापना के लिए एक न एक आयोजन करते हैं। और कुछ अंश में सच्चे दिल से उसका उपयोग करने की कोशिश भी करते हैं। लेकिन केवल यान्त्रिक पद्धति से शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। शान्ति की आकांक्षा जब हृदय में उत्कट हो उठती है, तब दोनों पक्ष शान्ति के लिए आतुर हो जाते हैं। एक-दूसरे के साथ हिलमिल कर रहने के लिए लालायित हो जाते हैं। इस तरह की पुण्यकारक बेचैनी

में से सजीव शान्ति का उदय होता है । इसे हृदय-परिवर्तन कहते हैं । यूनो एक हृदय-हीन, भावनाशून्य, प्राणरहित उपकरण है । संसार के प्रबल, प्रतापी और प्राणवान् राष्ट्र जब तक शान्ति के लिए बेचैन होकर उसमें प्राण नहीं डालेंगे, तब तक हम शान्ति-परिषदों, राष्ट्र-संघों और संयुक्त राष्ट्र-संघटनों की वर्षगाँठ मनाने की रस्म अदा करते रहेंगे । लेकिन ये शान्ति-संस्थाएँ शस्त्रसत्ता के अधिष्ठान पर ही जीयेंगी ।

एकमात्र उपाय

आशान्ति के कारणों का शान्तिमय प्रतिकार ही इस परिस्थिति में से सुरक्षित रहने का एकमात्र उपाज है। इस उपाय का आविष्कार भारत के राष्ट्र-पिता ने किया है । लेकिन 'नोबेल-प्राइज-कमेटी' से लेकर संसार के प्रमुख राष्ट्र–सूत्रधारों तक कोई भी उसे शान्ति का अग्रदूत माने तब !

हम यूनो का अभिनन्दन करते हैं । उसके उद्देश्यों का स्वागत करते हैं । लेकिन उसकी असहायता और असमर्थता के विषय में हमें अनुकम्पा है।

नागपुर ९-११-१९४९

२. यूनो की नीयत पर शक

चौपड़ की बिसात

यूनो आंतर्रष्ट्रीय शान्ति का सबसे बड़ा उपलब्ध उपकरण माना जाता है। इस प्रकार के वैधानिक साधनों में हमारे प्रधान मंत्री जवाहर लालजी को बड़ा विश्वास है, लेकिन ज्यों-ज्यों आंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति जटिल और रहस्यपूर्ण होती जाती है, यूनो की यह संस्था एक गोरख-धंधे का रूप ग्रहण कर रही है। इस साधन का जो कोई आश्रय करना चाहता है, वह गोरखधन्धे में फँस जाता है। यूनो संसार के प्रमुख सत्ताधारी राष्ट्रों के लिए चौपड़ की बिसात बन रहा है। संसार के सत्तावादी राष्ट्र उस पर सत्ता का द्यूत खेल रहे हैं। दोनों पक्ष अपने-अपने ढंग से अपनी प्रतिष्ठा की बाजी लगा रहे हैं। बारी-बारी से कपटनीति और धमकाने की नीति का अथवा प्रत्यक्ष शस्त्रबल के प्रयोग का अनुसरण हो रहा है। कौन अधिक धूर्त है और कौन उद्दण्ड है, इसका निर्णय करना कोई आसान बात नहीं है।

मुठमर्दी का औजार

इस सम्बन्ध में महाभारत की द्यूत-क्रीड़ा का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। कपट-नीति-पटु शकुनी बड़ी सिफल से पाँसे फिकवाता था। बेचारे पांडव हारते चले जा रहे थे, लेकिन पाँसे जरासंध की हड्डी से बने हुए थे, इसलिए ज्यों ही भीम दहाड़ता था, तो वे घबड़ा कर उसके अनुकूल पड़ने लगते थे। आज यूनों में भी कुछ ऐसा ही हो रहा है। दुर्बल और पीड़ित राष्ट्रों का सहारा बनने के बदले वह कुटिल नीति और मुठमर्दी का औजार बन रहा है।

कोरिया के मामले में जो उलटफेर हुए और जिस तरह की पैंतरेबाजी हुई, उसको देखने के बाद कुछ ऐसा अंदेशा होने लगा है कि आखिर यूनो भी संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों का प्रभुत्व स्थापित करने का साधन बनने जा रहा है।

आक्रमण के लिए बहाने

शुरू-शुरू में कोरिया के प्रकरण में केवल आक्रमणकारियों का प्रतिकार करने की बात कही गयी। यह किसी ने कभी नहीं कहा था कि दक्षिण कोरिया के रक्षण के लिए ३८वीं अक्षांश रेखा को लाँघ कर उत्तर कोरिया पर चढ़ाई करनी पड़ेगी। लेकिन अब तो अधिकृत रूप से उत्तर कोरिया पर धावा बोल दिया गया है। जो आक्रमण के लिए बहाना खोजना चाहे, उसे बहाना मिल ही जाता है और जो शान्ति की बुनियादें खोजना चाहे, उसे वे भी मिल जाती हैं।

संसार सन्नाटा नहीं, शान्ति चाहता है

कहा यह जाता है कि समूचे कोरिया के रक्षण के लिए उसका यूनो की अधीनता में रहना आवश्यक है, क्योंकि अब वह अपना अलग संसार करके सुरक्षित नहीं रह सकता। यों सुनने में यह भाषा बड़ी सुहावनी लगती है, लेकिन आज की दुनिया में कमजोरों और रक्षणाकांक्षियों के लिए क्षेम-कुशल का कोई आश्वासन नहीं है। यूनो में भी प्रभाव निस्पृह और निरपेक्ष विश्वशान्तिवादियों का नहीं है । वहाँ भी अधिकार प्रभुत्ववादियों के हाथ में है। जो प्रभुत्व चाहते हैं, उनका निष्कंटक अधिराज्य यदि संसारभर में हो जाय तो भी एक प्रकार की निष्प्राण शान्ति तो स्थापित हो ही जायगी। लेकिन सन्नाटा शान्ति नहीं है। संसार ऐसी शान्ति के लिए लालायित है, जो हरएक छोटे-छोटे राष्ट्र के जीवन-विकास में सहायक हो । प्रभुत्ववादियों के बन्दी बन कर रहने में न तो क्षेम है, न संतोष है और न विकास ही।

प्रभुत्व-स्थापना के प्रयोग

जब किसी गाँव में कोई वारदात हो जाती है, तो वहाँ पर अमन कायम करने के लिए गाँव के कुछ भले आदमी और वजरदार आदमी जमा होकर अपनी एक अमनसभा बना लेते हैं । ये भले आदमी अक्सर गाँव के धनी लोग होते हैं और उनमें कुछ लाठीबहादुर भी

होते हैं । इस प्रकार थैली और लाठी की युति से उनकी संयुक्त सत्ता की स्थापना हो जाती है । इस प्रभुत्व के प्रयोग का नाम ही शान्ति-स्थापना की चेष्टा रख दिया जाता है। मन में रह-रह कर यह आशंका होती है कि कहीं यूनो में इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति तो नहीं हो रही है ?

इस समय इससे अधिक लिखने को जी नहीं चाहता, क्योंकि अभी घटनाओं का स्वरूप बहुत कुछ संदिग्ध और संमिश्र है।

१०-१०-१९५०

३. यूनो की वर्षगाँठ

अविश्वास का वातावरण

उस दिन यूनो (संयुक्त राष्ट्र-संघ) की दूसरी वर्ष-गाँठ के अवसर पर भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू ने उसे बधाई देते हुए कहा कि संसार में **जो कोई अमनचैन चाहता है, शान्ति और भाईचारा चाहता है, ऐसे हरएक व्यक्ति को इस संयुक्त राष्ट्रसंघ कां अंभीष्ट चिंतन करना चाहिए और उसकी ताकत बढ़ानी चाहिए**। बाबूजी की बात का हमारे देश के केन्द्रीय और प्रादेशिक शासनों ने तथा राजनेताओं ने समर्थन किया। लेकिन पिछले वर्ष युनो के लिए लोगों के दिल में जो इज्जत और भरोसा था, वह इस साल नहीं दिखाई देता। यूनो का जो अभिनंदन जगह-जगह हुआ, उसमें कोई उत्साह या उमंग नहीं दिखाई दी। इसका कारण यह नहीं है कि संसार की या भारत की साधारण जनता शान्ति और बंधुत्व का वातावरण कायम करना नहीं चाहती; बल्कि इसका कारण यह है कि जिन राष्ट्रों के पास फौज और हथियारों की माकूल ताकत नहीं है, उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ का भरोसा करने की हिम्मत नहीं होती । इसलिए सारा का सारा वायुमंडल शंका और अविश्वास से संकुल है।

प्रभावशाली उपकरण बनाने की शर्त

स्कूल में हमें एक सूक्ति पढ़ायी जाती थी; "**तिनकन की रसरी करी, करी निबंधन होय**"—तिनकों की रस्सी बँटी, जिससे कि हाथी भी बाँधा जा सकता है—लेकिन यह तब होता है, जब रस्सी बँटने में कमजोर से कमजोर तिनके की भी शक्ति का उपयोग किया जाता है। सारे तिनकों की कमजोरी को इकट्ठा करके उसे बल देने से मजबूत रस्सी नहीं बनेगी, बल्कि उसे बल ही नहीं मिलेगा। उसकी कोरी ऐंठन से किसी का कोई लाभ नहीं होगा। यूनो के साथ कुछ ऐसा ही हो रहा है। उसमें शक्तिशाली राष्ट्रों को **एक-दूसरे के लिए**

सद्भावना और विश्वास की **रस्सी नहीं बँटी जा रही है**। एक-दूसरे के प्रति अनास्था और आशंका को बल देने से जागतिक शान्ति की रज्जु तैयार नहीं होगी और न वह संसार के सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों को एक सूत्र में पिरो कर साधारण जनता को आश्वासन और उत्साह दिला सकेगी। यूनो में जो जो प्रमुख राष्ट्र शामिल हुए हैं, उन्होंने अपनी स्वार्थभावना को तिलांजलि नहीं दी है । उनकी स्वार्थभावना सुबुद्ध भले ही हो, लेकिन उनकी वृत्ति में विश्वास की अपेक्षा सतर्कता अधिक है और इसी कारण वे एक-दूसरे का भरोसा नहीं कर पाते। बड़ी सावधानी के साथ सम्हल-सम्हल कर कदम रखते हैं; जिसका पर्यवसान एक-दूसरे की तरफ कदम बढ़ाने के बदले पैंतरेबाजी में होता है। **यूनो स्नेह और विश्वास का पुण्यतीर्थ बनने के बदले एक-दूसरे** को अपनी-अपनी बुद्धि, शक्ति और कुटिल नीति से परास्त करने की संघर्षभूमि बन जाती है। अखाड़े में अतरनेवाले सभी मल्ल अपने-अपने प्रतिमल्ल के हाथ मिलाने के लिए हाथ बढ़ाते हैं, लेकिन सभी हाथ मिलाने से डरते हैं। अंदेशा यह है कि अँगुली पकड़नेवाला कहीं पहुँचा न पकड़ ले। सबसे बड़ी बात यह है कि विश्वशान्ति की स्थापना के लिए विश्वशांति की उत्कंठा चाहिए। उसकी उत्कट इच्छा चाहिए। फिर तो जहाँ चाह है, वहाँ राह निकल आती है। स्वार्थों के—सुबुद्ध और प्रबुद्ध स्वार्थों के भी—जोड़ या गुणाकार से परार्थ नहीं बनता । सबके संदेह और अविश्वास को इकट्ठा करके उसका ढेर लगा देने से परस्पर-विश्वास और बन्धुभाव का मेरुपर्वत नहीं बन सकता। आज हो यही रहा है। अमरीका कहता है कि विश्वशांति का जिम्मा और ठेका हमने लिया है, इसलिए जहाँ-जहाँ अंशान्ति का अंदेशा होगा वहाँ हम अपनी सत्ता कायम करेंगे और संसार को झगड़े-बखेड़े से बचायेंगे। उधर रूस सोचता है और कहता है कि अमरीका मकड़ी की तरह अपना जाल फैला रहा है। शान्ति और स्वस्थता **के आवरण के पीछे उसका जघन्य साम्रान्यवाद संसार को पादाक्रांत करने की** कारस्तानियाँ कर रहा है । दोनों एक-दूसरे पर षड्यन्त्र और साजिशों का आरोप लगाते हैं, इसलिए दोनों एक-दूसरे की चाल

का प्रतिकार करने में व्यस्त हैं। एशिया के राष्ट्रों को और यूरोप की शांतिप्रिय राष्ट्रों को यह डर है कि प्रभुत्व की चक्की के इन दो पाटों के बीच हम पिस न जायँ ! ये सारी भावनाएँ और बलशाली राष्ट्रों की यह वृत्ति विश्वशान्ति के वातावरण के लिए किसी भी तरह अनुकूल नहीं है। किसी प्रमुख राष्ट्र को दूसरे सभी प्रमुख और अप्रमुख राष्ट्रों का भरोसा करने की हिम्मत करनी होगी। अपनी सद्भावना से और प्रभुत्वाकांक्षा के परित्याग से छोटे और कमजोर राष्ट्रों को आश्वासन दिलाना होगा, तब कहीं यूनो जागतिक सद्भाव और शान्ति का मंच तथा प्रभावशाली उपकरण बनेगा। अन्यथा वह नीतिचतुर राष्ट्रों के बुद्धिबल का क्रीड़ांगण तथा बलवान् और उद्दण्ड प्रभुत्वाकांक्षा का औजार बनकर रहेगा।

मनुष्य का भाग्य-निर्णायक युद्ध नहीं

पिछले महायुद्ध से पहले संसार के सुविख्यात तत्त्वचिंतक बर्ट्रेंड रसेल ने 'शान्ति किस रास्ते ?' नामक पुस्तक लिखी थी । उसमें कुछ बड़े मार्मिक सूत्र उन्होंने दिये हैं। वे कहते हैं :

“लड़ाई के डर का बहाना बतला कर शस्त्रास्त्र बढ़ाये जाते हैं । शस्त्रास्त्रों के बढ़ने से लड़ाई की आशंका बढ़ती है और लड़ाई की आशंका से लड़ाई की सम्भावना बढ़ती है। लड़ाई भूकम्प की तरह निसर्ग का प्रकोप नहीं है;वह मनुष्य की प्रेरणा में से पैदा होती है और मनुष्य की प्रेरणा से बन्द हो सकती है।

“हमारी मुख्य कठिनाई मानसिक है । हरएक राष्ट्र को स्वतन्त्रता का अधिकार है, यह मानने के बदले हम मान यह लेते हैं कि मेरे राष्ट्र को स्वतंत्रता का अधिकार है और जिनका मैं विरोध करना चाहता हूँ, वे दुष्ट हैं और हैवान हैं, इसलिए जागतिक सभ्यता का यह तकाजा है कि उन्हें स्वतन्त्र न रहने दिया जाय।

"जरूरत इस बात की नहीं है कि हम अपने-आप को हतबल समझने लगें । जरूरत इस बात की है कि हम लड़ाई को मनुष्य के भाग्य का निर्णायक-तत्त्व मानना छोड़ दें और यह याद रखें कि जो हमारे दुश्मन हो सकते हैं, वे भी हमारी तरह मनुष्य ही हैं।"

विश्वशान्ति के उपकरण

रसेल की प्रज्ञा-परिणत सूत्र यूनो तथा अन्य सभी शान्तिनिष्ठ संस्थाओं के लिए मार्गदर्शक हो सकते हैं । जहाँ प्रभुत्वाकांक्षा है, सन्देह और अविश्वास है, वहाँ शान्ति के औजार भी संघर्ष के हथियारों में बदल जाते हैं। हमें तो युद्ध के आयुधों को भी विश्वशांति के उपकरणों में परिणत करना है । युनो में प्रभाव रखनेवाले राष्ट्रों को भगवान् यह सुबुद्धि दे, अन्यथा कुशल नहीं है।

धनतोली, नागपुर २-११-१९५०

४. गृहयुद्ध विश्वयुद्ध में परिणत न हो

'तर्कबद्ध' अनुमान

कोरिया में जब से गृहयुद्ध शुरू हुआ, तब से फिर बड़े वेग के साथ संसार के अनेक उत्कंठित विचारक अपनी-अपनी दृष्टि और मनोवृत्ति के अनुसार अटकल लगाने लगे हैं; कयास करने लगे हैं; तर्क-वितर्क करने लगे हैं । इनमें से कुछ तर्कबद्ध अनुमान भी हैं। मैं तर्कसिद्ध नहीं कहता। कारण स्पष्ट है। भारत में आर्यलोग कब आये और कहाँ से आये, इसके विषय में अनेक तर्कयुक्त अनुमान प्रकाण्ड पण्डितों ने किये हैं । उनमें एक ही समानता है। वह यह कि वे सबके सब अब तक असिद्ध हैं। भविष्य के बारे में जो अन्दाज किये जाते हैं, उनका भी प्राय: यही हाल होता है। फिर भी कोई न कोई अन्दाज तो सही निकलता ही है। लेकिन यह वस्तुस्थिति का गुण है, न कि उस अनुमान का।

हमारे छुटपन में नागपुर के एक धूर्त ज्योतिषी था। उसकी यह प्रतिज्ञा थी कि जो लड़का मुझे एक रुपया देगा, उसे पास करा दूँगा । जिसे पास नहीं करा पाऊँगा, उसके पैसे वापस करूँगा। उस ज्योतिषी का न कभी भंडा-फोड़ हुआ और न वह कभी झुठलाया गया। बात यह थी कि अगर उसे तीन सौ लड़के एक-एक रुपया देते थे तो उनमें से कुछ तो पास हो ही जाते थे। उतने रुपये उसे मिल जाते थे। जो लड़के फेल होते थे, उन्हीं के रुपये उन्हें वह लौटा देता था। उसकी गिरह से कुछ नहीं जाता था। उलटे, जितने लड़के पास हो जाते थे, उतने रुपये वह अपनी अण्टी में रख लेता था।

अशोक-वनिका-न्याय का नमूना

हमारे बहुत से भविष्य-वक्ताओं का और अखबार-नवीसों का यही रवैया है। वे अटकलपच्चू भविष्यवाणी कर दिया करते हैं । अगर वह सही न निकली तो, वे कहते हैं, हमें इसकी खुशी है कि हमारा अन्देशा गलत साबित हुआ। अगर कहीं उनका अनुमान

सच्चा साबित हुआ तो वे कहते हैं—इसके पूर्वलक्षण तो परिस्थिति में विद्यमान थे। हमने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से उनको खोजा और सारे समाज को पूर्वसूचना दी । पिछले महायुद्ध से पहले भी संसार के सुप्रसिद्ध समाज-शास्त्रियों ने कई तरह के अनुमान लगाये और अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भविष्य कथन भी किया। उन अनुमानों में से बहुत ही थोड़े सही साबित हुए। जो अनुमान सही साबित होते हैं, उनके अनुकूल तर्कों की सब लोग प्रशंसा करने लगते हैं और प्रतिकूल तर्कों की निंदा करने लगते हैं । वस्तुस्थिति यह होती है कि किसी न किसी तर्क को तो साबित होना ही है ! दो अनुमानों में से एक सही साबित हो जाता है केवल अशोकवनिका न्याय से। रावण ने सीता को अशोक-वन में क्यों रखा ? जवाब इतना ही है कि दूसरे वन में नहीं रखा इसलिए। अमुक अनुमान सही साबित क्यों हुआ ? इसलिए कि दूसरा साबित नहीं हुआ।

शान्ति की भाषा के कलेवर में युद्ध-तैयारियाँ

यह केवल विनोदप्रेरित आलोचना नहीं है। इसमें एक विचार है। आज की परिस्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण करने के बाद मन में सन्देह होने लगता है कि आखिर परिस्थिति किसीके भी काबू में है या नहीं ? इसका नियन्त्रण कोई कर सकता है या नहीं ? क्या उसे उचित दिशा में मोड़ने की शक्ति आज किसी में है ? मालूम ऐसा होता है कि मानो घटना-प्रवाह की गति यदृच्छा से चल रही है और बड़े से बड़े राष्ट्र तथा तगड़े से तगड़े व्यक्ति प्रवाहपतित हैं। सब बहते चले जा रहे हैं, तैर कोई नहीं रहा है। बड़े-बड़े दार्शनिक भी आज निश्चित रूप से यह नहीं बतला पा रहे हैं कि ये सारी घटनाएँ आखिर हमको किस तरफ ले जा रही हैं ? जिन राष्ट्रों का और राष्ट्र-नेताओं का यह दावा है कि संसार की गतिविधि का वे नियमन करते हैं, वे भी भाषा तो शान्ति की ही बोलते हैं, मगर तैयारियाँ युद्ध की करते हैं। इसका साफ मतलब यह है कि परिस्थिति उनके हाथ में नहीं है। वे चाहते एक हैं, मगर उनको करना कुछ और पड़ता है।

विचारशीलों को आह्वान

यह बड़ी गम्भीर परिस्थिति है, जब कि संसार के बड़े से बड़े विचार-नेता, कार्य-नेता, संस्था-नेता तथा राज्य-नेता, सभी यह कहते हैं कि हम शान्ति के पुजारी हैं और शान्ति की स्थापना के लिए लालायित हैं । तब बरबस यह अशान्ति आती कहाँ से है ? कया वह हमारे प्रयत्नों के बावजूद आती है या फिर हमारे प्रयत्नों के कारण आती है ? जो चीज संसारभर के सभी प्रमुख और सामान्य मनुष्य चाहते हैं, वह सिद्ध क्योंकि नहीं हो रही है ? इस समस्या का समाधान संसार के सभी विचारशील व्यक्तियों को खोजना चाहिए।

विज्ञान और समग्र मानवता

या तो हम दरअसल जो कहते हैं, वह चाहते नहीं हैं या सच्चे दिल से चाहते भी हैं तो अपनी इच्छा को चरितार्थ करने में असमर्थ हैं। अगर सच्चे दिल से चाहते हैं तो अपनी असमर्थता के कारणों को खोजने और दूर करने की कोशिश में लगना चाहिए, हमारा अपना यह ख्याल है कि मनुष्य ने विज्ञान का आश्रय लेकर जीवन के एक-एक क्षेत्र में अलग-अलग प्रगति करने की कोशिश की। परिणाम यह हुआ कि एक क्षेत्र का दूसरे क्षेत्र के साथ कोई अनुबंध नहीं रह गया और कुल मिला कर मनुष्य की परिस्थिति के साथ कोई मेल नहीं रहा । 'बहुशाखाह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' वाली बात चरितार्थ हो गयी। व्यावसायिक बुद्धि में जो एकात्मता होती है, वह ज्ञान-विज्ञान की इन अनंत शाखाओं में नहीं रही। विज्ञान की एक शाखा ने कहा, मनुष्य देहधारी है, बल्कि देह ही है। इसलिए उस विशिष्ट विज्ञान ने मनुष्य का विश्लेषण शवच्छेदन की तरह किया। विज्ञान की दूसरी शाखा ने उसे सिर्फ एक रासायनिक द्रव्य की तरह समझा। तीसरी शाखा ने उसे प्राणधारी समझा और एक जीव की तरह उसका विश्लेषण किया। चौथी शाखा ने उसे केवल उदरपरायण समझकर आर्थिक संयोजन का एक क्षुद्र साधन माना । इस प्रकार विविध विज्ञानों ने मनुष्य

को अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार विशिष्ट रूप में देखा। लेकिन उनमें से किसी ने भी उसे समग्र मानव के रूप में नहीं देखा।

भस्मासुर का नया अवतार

तो क्या इन विज्ञानों ने जो देखा, वह सब झूठ है, भ्रमात्मक है ? नहीं । हमने यह कब कहा कि अन्धों को हाथी के जिस अंग का ज्ञान हुआ, वह मिथ्या हुआ ? लेकिन अन्धों ने जो-जो देखा, उन सबके जोड़ का नाम क्या हाथी है ? हरएक विज्ञान ने आंशिक रूप से मानव के एक-एक अंग का विश्लेषण किया। वह विश्लेषण अपने में सम्पूर्ण भी है; लेकिन इन विज्ञानों ने मनुष्य को जिन-जिन विशिष्ट रूपों में देखा, उन सबका जोड़ मनुष्य नहीं है। सारे विज्ञानों का जोड़ करने के बाद भी ऐसा कुछ शेष रह जाता है, जिसकी व्याख्या और मीमांसा अब तक किसी विज्ञान ने नहीं की । यही कारण है कि विज्ञान के सारे देवता हमारे जीवन को नन्दनवन बनाने के बदले स्वयं पिशाच बनकर, इस भूतल को श्मशान बना रहे हैं । यही कारण है कि हमारे जगाये हुए भूतों-पलीतों पर हमारा कोई काबू नहीं चलता। भूतों को जगाने के मन्त्र तो हम जानते हैं, लेकिन उनको शांत करने के प्रयोग हम नहीं जानते । जब तक यह स्थिति रहेगी, तब तक संसार में शांति, स्वास्थ्य और संतोष स्थापित करने की हमारी सारी योजनाएँ विषम और प्रतिकूल सिद्ध होंगी ।

विश्वशान्ति का यह रास्ता नहीं

कोरिया के गृहयद्ध को जागतिक युद्ध में परिणत करना शान्ति का उपाय नहीं है। युद्ध की तैयारी में जो पराक्रम, संयोजन-शक्ति और आविष्कार की प्रतिमा बतलायी जाती है, उसका विनियोग जब शान्ति-स्थापना के प्रयोगों में करने की सद्बुद्धि और हिम्मत संसार के प्रमुख राष्ट्र दिखायेंगे, तभी विश्वशान्ति की उषा का उदय होगा, अन्यथा नहीं ।

धनतोली, नागपुर ७-६-१९५०

५. युद्धवाद का मूल स्त्रोत

सीमा-स्थान की शंकास्पद शान्ति

अभी हाल ही पूर्व-पंजाब की पश्चिम सरहद से लौटा हूँ। मैं ऐसे कई गाँवों में भी हो आया हूँ, जहाँ से पाकिस्तान की सरहद बहुत ही करीब थी, फिर भी वहाँ के लोग अपने नित्य के व्यवहार बिना किसी घबड़ाहट या हड़बड़ी के कर रहे थे। पाकिस्तान इधर जो रुख अख्तियार कर रहा है, उसकी तरफ से वे बिलकुल उदासीन तो नहीं थे, छोटे-छोटे गाँवों में भी रेडियो पहुँच जाने के कारण बिलकुल अद्यतन खबरें उन्हें मालूम थीं; लेकिन उनके मन पर या व्यवहार पर उसका कोई परिणाम नहीं दिखायी देता था। यह देख शुरू-शुरू में तो मुझे बहुत संतोष हुआ, परन्तु बाद में कुछ आशंका भी होने लगी।

चार आलसियों की कहानी

लोगों को जब निश्चिन्त भाव से अपने-अपने नित्य के व्यवसाय करते देखा, तो स्कूल में पढ़ा हुआ एक किस्सा याद आया। सुप्रसिद्ध कवि विद्यापति ने जो पुरुष-परीक्षा लिखी है, उसमें दानवीर, युद्धवीर आदि की कथाओं के साथ-साथ कृपण-कथा, चौर-कथा और अलस-कथा भी हैं । अलस-कथा में एक-से-एक बढ़कर आलसियों का वर्णन है।

जो दरअसल आलसी हो, उसके खाने का इन्तजाम राजा करनेवाला था। इसलिए आलसियों का इम्तिहान लेने का निश्चय हुआ । जिस घर में चार आलसी एक ही कमरे में खाटों पर लेटे हुए थे, उस घर में आग लगा दी गयी । पहला आलसी बोला, “अपने कमरे तक पहुँचेगी तब देखा जायगा !” राजदूतों ने उसे आलस्य-मंदिर में से निकाल दिया। दूसरा बोला, “पड़ोस की खाट में आग लगेगी तब सोचेंगे।” पड़ोस की खाट में आग लगते ही वह भाग गया। तीसरे की खाट के पाये में आग लगी तब वह भागा, लेकिन चौथे की रजाई भी जलने लगी तब राजदूत बोले, “अरे भाई, जल जायगा !” आलसी बड़ी मुश्किल से बोला,

"जिसे फिक्र हो वह बचाये। यहाँ तो नींद आ रही है।" राजा ने उसके लिए सालभर मुफ्त भोजन का इन्तिजाम कराया। पंजाब की सरहद के देहातियों को मैंने यह किस्सा सुना दिया। वे इंगित समझ गये।

विविध मनोवृत्तियों के बीच

शहरों में कुछ पढ़े-लिखे और अपढ़ चतुर लोग कहने लगे, "पाकिस्तान जिस तरह पहले से तैयारियाँ कर रहा है, उसी तरह की तैयारियाँ हमको भी करनी चाहिए। हमको हमला नहीं करना है, लेकिन गाफिल भी नहीं रहना है। कहीं ऐसा न हो कि पाकिस्तान धावा बोल दे और हम ऊँघते रहे।

इनमें भी दो तरह के लोग हैं। एक वे, जो कि हमेशा संदेह करते रहते हैं। पिछली बार कोई ७-८ महीने पहले जब मैं उत्तर की तरफ गया था तो वहाँ के खबरदार और चौकन्ने लोग मुझसे पूछते थे, "कहीं ये कम्युनिस्ट तिब्बत और नेपाल से नीचे तो नहीं उतर आयेंगे?" मैंने जवाब दिया, "आप आने देंगे तो आयेंगे।" वे चुप रहे । तब मैंने पूछा, "वे न आयें, इसके लिए आप क्या कर रहे हैं ?" फिर भी वे चुप ही रहे।

दूसरे वे हैं, जो लड़ाई की जोरदार तैयारियाँ पाकिस्तान की तरह करना चाहते हैं। वे नहीं जानते कि अक्सर लड़ाई का अंदेशा लड़ाई का डर पैदा करता है। लड़ाई के डर के कारण लड़ाई की तैयारियाँ शुरू होती हैं। तैयारी से लड़ाई की मनोवृत्ति पैदा होती है और लड़ाई की मनोवृत्ति का परिणाम प्रत्यक्ष लड़ाई में होता है। पाकिस्तान में यही हो रहा है। सबसे पहले उन्होंने लड़ाई का हौआ खड़ा किया। उसके बाद मुक्के दिखाना शुरू किया। और अब पाकिस्तान के प्रमुख व्यक्तियों पर लड़ाई का नशा सवार है।

युद्ध का जन्म, डर की कोख से

जॉन बर्नाड शॉ ने नेपोलियन के विषय में एक नाटिका लिखी, जिसका नाम है—द मैन ऑफ द स्टील—भाग्यवान् पुरुष । नेपोलियन एक स्त्री को लड़ाई की मनोवृत्ति की मीमांसा करके समझाता है। वह कहता है :

संसार में एक ही सार्वभौम मनोविकार है और वह है डर। मनुष्य में हजारों गुण हो सकते हैं, लेकिन मेरी सेना के इस नक्कारा बजानेवाले लड़के में और मुझमें जो एक ही अचूक स्वभाव-धर्म तुम पाओगी, वह है डर। यह डर ही मनुष्यों को लड़ाता है। उदासीनता मनुष्यों को भगाती है । युद्ध का मूल स्रोत डर है ! डर !! मैं डर को खूब जानता हूँ, तुमसे अच्छी तरह जानता हूँ। किसी भी औरत से ज्यादा अच्छी तरह जानता हूँ। एक बार बहादुर स्विस सिपाहियों की एक पलटन को पेरिस शहर की एक भीड़ ने कत्ल कर डाला। मैं देखता रहा, लेकिन बीच-बचाव करने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। जब मैं यह दृश्य देख रहा था, मैं महसूस करता था कि मैं कायर हूँ। सिर से पैर तक कायर। सात महीने हुए। मैंने अपनी इस शर्म का बदला उस भीड़ को गोलियों से छेद-छेद करके लिया।" नेपोलियन एक चतुर सेनापति और युद्ध-विशारद सैनिक था। उसकी यह युद्ध-मीमांसा जितनी मार्मिक उतनी ही बोध-प्रद भी है। हम सभी उससे सबक सीख सकते हैं।

इसलिए हमारे प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू की उक्ति और कृति में भी जहाँ वीरोचित आत्मप्रत्यय है, राज्यनेता की दृढ़ता है, वहाँ संयम भी है । घबराहट और झुँझलाहट में झगड़ा करने की मनोवृत्ति आज उनकी नहीं है, इसलिए सारे देश के लोगों से उन्होंने निवेदन किया है कि लोग घबरायें भी नहीं और झुँझलायें भी नहीं ।

सरकार ही भगवान्

एक बात और देखने में आती है। देश पर जब विदेशी आक्रमण का खतरा है, ऐसी स्थिति में भी लोग सबसे पहले आजादी, सबसे पहले भारत का महत्त्व महसूस नहीं करते। बिलकुल पाकिस्तान की सीमा पर बैठे हुए लोग भी सरकार को कोसते हुए पाये जाते हैं। अंग्रेजों के जमाने में वे ईश्वर को सरकार से बड़ा मानते थे, इसलिए जब पानी बहुत बरसता था, या कम बरसता था तो कहते थे—भगवान् का कोप हुआ है। लेकिन जब बारिश बिलकुल न हो या बहुत ज्यादा हो तो कहते हैं, 'यह सरकार ही बेकार है।' अब वे उसे भगवान् से भी बड़ी समझने लगे हैं।

आज का नारा : भारत सबसे पहले

साधारण मनुष्य को और कार्यकर्ता को भी आजादी की अपेक्षा अपने-अपने परिमित स्वार्थों की कीमत अधिक मालूम होती है। कोई अपनी भाषा की उन्नति की चिन्ता कर रहा है, किसीको अपने खेत की चिन्ता है, कोई अपने घर की फिक्र में पड़ा हुआ है। हरएक को अपना-अपना घरौंदा सारे राष्ट्र के लोक-भवन से अधिक कीमती मालूम हो रहा है । सरहद के पास रहने वाले कुछ लोग अपनी भाषा के लिए और अपने सम्प्रदाय के लोगों के लिए एक अलग प्रदेश चाहते हैं । अलगौझा मानो हमारे खून में ही है । भारतमाता के मन्दिर की हिफाजत की तरफ अपेक्षाकृत कम ध्यान है। जो लोग सम्प्रदायवादी या जातिवादी नहीं हैं, वे भी किसान-मजदूरों के नाम पर दुनियाभर में छोटे-छोटे घरौंदे बनाने के हिमायती हैं । इस समय सबसे पहली और सबसे अधिक आवश्यकता है स्वदेश-प्रेम की भावना की । 'पहले भारत, सबसे पहले भारत'—यह आज हमार नारा होना चाहिए।

व्यर्थ आरोप

कुछ लोग तो यह भी कहते पाये जाते हैं कि चुनाव में सफलता पाने के लिए ख्वामख्वाह कांग्रेसियों ने और उनकी सरकार ने युद्ध का यह हौआ जगाया है। भारत के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस-पक्ष के नेता हैं। कया उनके किसी भाषण, लेख या कृति से कोई ऐसा कह सकता है कि वे इस देश में युद्ध का भूत जगा रहे हैं ? उधर श्री लियाकेत अली खाँ युद्ध के पिशाच का आवाहन कर रहे हैं । ऐसी स्थिति में भी भारत के प्रधान मन्त्री अपनी मानवता की उपासना छोड़ना नहीं चाहते । इसलिए उन पर या कांग्रेस पर इस तरह का आरोप करना व्यर्थ है।

जीवन की पहली शर्त : स्व-राज्य

भारत एक प्रौढ़, अनाक्रमणशील, संयमी और पुरुषार्थवान् राष्ट्र है। उसे इस राष्ट्रीय संकट के समय भी अपनी वृत्ति के अनुरूप वर्तन करना चाहिए। सुख और सत्ता की अपेक्षा इस समय स्वतंत्रता को अधिक महत्त्व देना चाहिए। सुराज्य वांछनीय है, आवश्यक भी है; लेकिन स्वराज्य अनिवार्य है। जीवन की वह पहली शर्त है। इस देश के देशभक्तों को, राजनीतिज्ञों को और पक्ष-नेताओं को चाहिए कि वे सत्तावादी राजनीति को अर्थात् पक्षनीति को गौण स्थान दें और राष्ट्रनीति को अर्थात् स्वराज्य-नीति को पहला स्थान दें।

११-८-१९५१

६. ऐटली की जगह चर्चिल

सत्तांतर क्यों ?

हाल ही में इंग्लैंड में आम चुनाव हुए और उनमें स्थितिवादी (कांजर्वेटिव) दल की जीत हुई। कुछ लोग इसलिए खुश हैं कि स्थितिवादी दल बहुत थोड़ी रायों से जीता। परन्तु चाहे एक ही वोट से क्यों न हो, स्थितिवादी दल का जीतना अशुभ लक्षण ही माना जायगा। क्या इसका यह मतलब है कि अब उपयोगिता की दृष्टि से इंग्लैण्ड के लोग कांजर्वेटिव और मजदूर दल में कोई खास फर्क नहीं समझते ? या फिर दूसरा कोई ऐसा कारण हो गया है, जिसकी बदौलत इंग्लैण्ड के लोगों ने इस वक्त चर्चिल और उनके प्रतिगामी साथियों के हाथ में सत्ता की बागडोर देना आवश्यक समझा ?

परिवर्तन : शक्ति-हीनता का सूचक

इसके दो ही कारण नजर आते हैं । एक कारण तो यह है कि अब इंग्लैण्ड में किसी एक ही दल का अबाधित बहुमत नहीं रह गया है। सरकार चाहे चर्चिल की हो या ऐटली की, वह केवल अपने दल के भरोसे शासन नहीं कर सकेगी । उसे जमाने की जरूरत पहचाननी होगी और लोगों की आकांक्षाओं के साथ कदम मिलाना होगा। यह जमाना उच्च वर्ग के लोगों की सत्ता का नहीं है। खेती और मजदूरी करनेवालों की प्रतिष्ठा और सत्ता तेजी के साथ बढ़ रही है और बढ़नेवाली है। जनता में जब इतनी समझ और इतनी कूबत आ जाती है, तो वह समय की आवश्यकता के अनुसार कभी इस दल को और कभी उस दल को अधिकार पर बैठा देती है। इससे उसके साधन-प्रबंध में और समाज-रचना में कोई दूरगामी परिवर्तन नहीं होते। चर्चिल और ऐटली के दलों में संख्याबल की दृष्टि से जो अन्तर है, वह लगभग नगण्य है, इसलिए मजदूर दल के सहयोग या अविरोध के बिना चर्चिल की सरकार अपनी कोई योजना कार्यान्वित नहीं कर सकेगी। इंग्लैंड एक ठंडे दिमागवाले लोगों

का देश समझा जाता है। वहाँ आत्यन्तिक मतवादी तूफान दल नहीं हैं, इसलिए वह बहुत बड़ी उथल-पुथल या उलट-फेर के बिना धीरे-धीरे प्रगति का रास्ता नापता चला जाता है । सरकारें बदल जाने से उसकी मुख्य नीति में और प्रवृत्ति में कोई खास फर्क नहीं पड़ता। जब कि इंग्लैण्ड के लोगों ने यह समझ लिया है कि ऐटली और चर्चिल में कोई अन्तर नहीं है, तो उसका मतलब यह होता है कि या तो चर्चिल कुछ आगे बढ़ गये हैं, या मजदूर-दल कुछ पीछे आ गया है । या दोनों की तरफ बढ़े हैं । या फिर अब पार्लमेंटरी पद्धति में सबसे अधिक अनुभवी जनता इस नतीजे पर पहुँची है कि केवल सत्ता की राजनीती से शासन भले ही सुचारू रूप से चले, लेकिन जीवन की मूलभूत समस्याएँ हल करने की शक्ति उसमें नहीं रह गयी है ।

साम्राज्यवाद का अवशेष

दूसरा कारण यह मालूम होता है कि आज की परिस्थिति में इंग्लैण्ड के लोगों को ऐटली की अपेक्षा चर्चिल अधिक उपयोगी मालूम होता है । ईरान में इंग्लैण्ड को करीब-करीब मुँह की खानी पड़ी । स्वेज की नहर का मामला भी दिन पर दिन टेढ़ा होता चला जा रहा है। सारे संसार में युद्ध का वातावरण और निःशस्त्रीकरण की चर्चा साथ-साथ जोर पकड़ रही है। ऐसी परिस्थिति का सामना करने में चर्चिल बड़े कुशल हैं । वे सुलह की और निःशस्त्रीकरण की चर्चा में भाग लेते हुए युद्ध की तैयारियाँ करते रहने की अजीब सिफत रखते हैं । इसलिए इंग्लैण्ड के लोगों ने शायद यह जरूरी समझा कि ऐसे समय पर राजसत्ता की बागडोर विन्स्टन चर्चिल के हाथों में रहना ही ज्यादा फायदेमन्द होगा। इस तरह की कोई स्पष्ट संवेदना व्यक्त रूप से भले ही न रही हो, लेकिन परिस्थिति में वह आकांक्षा अवश्य छिपी होनी चाहिए। इसीलिए मजदूर-दल के शासन के बाद चर्चिल का दल अधिकारारूढ़ हो सका।

हमारे लिए सबक

भारतवर्ष के लिए यह एक अस्पष्ट चेतावनी भी है । इस देश में स्वतंत्र गणराज्य की स्थापना इंग्लैण्ड के प्रत्यक्ष और परोक्ष सहयोग से हुई। चर्चिल को यह बात बहुत नागवार गुजरी । वह उनके दिल में आज भी खलती है। आज दुनिया में हम सबके मित्र हैं, लेकिन हमारा मित्र कोई नहीं। सारी दुनिया के लिए मित्रता और सद्भाव रखनेवाले हमारे प्रधानमंत्री की वैदेशिक नीति भी दूसरों को हमारा मित्र बनाने में कामयाब नहीं हुई। अमेरिका हमसे नाराज है। रूस को भी हमारे बारे में आशंका है। अमेरिका के कारण इंग्लैण्ड भी हमसे खुश नहीं है। ऐसी हालत में इंग्लैण्ड के शासन की बागडोर साम्राज्यवादी पुराणप्रिय विंस्टन चर्चिल के हाथ में आयी । इसलिए हमको बहुत सावधान और सजग हो जाना चाहिए। हमारी वैदेशिक नीति में अधिक निश्चितता और दृढ़ता आनी चाहिए। हमारे लिए ब्रिटेन के चुनाव के नतीजे का यही सबक है।

१९-११-१९५१

७. विश्वशान्ति का मखौल

मनुष्य-समाज में लड़ाई का सवाल बड़ा टेढ़ा-और पेचीदा रहा है । जितनी लड़ाइयाँ होती हैं, उन सबमें कोई भी पक्ष यह नहीं कहता कि मैं लड़ाई करना चाहता था, और मैंने लड़ाई शुरू की । दोनों कहते हैं, "हम क्या करें ? सामनेवाला हमारी छाती पर ही आ धमका, तब तो हमको भी अपना बचाव करना ही पड़ा। चुपचाप मार खाने से तो रहे।"

उलटा तरीका

इन दोनों दलों में एक बहुत महीन फर्क कभी-कभी देखने में आता है। इनमें से जो कमजोर होता है, वह अक्सर यह दिखाने की कोशिश करता है कि “हम कोई दब्बू और डरपोक नहीं हैं। यहाँ लड़ाई से जी नहीं चुराते। ड्यौढ़े से लोहा लेते हैं।" लेकिन इस तरह की शेखी प्राय: दुर्बल पक्ष ही बघारता है, क्योंकि वह आक्रमण को पलायन से बेहतर समझता है और खास कर अपने से बलवान् पर धावा बोलने में अपनी शान समझता है। परन्तु जहाँ इस प्रकार की दुर्बलता की भावना न हो, वहाँ दोनों पक्ष यह जतलाते नहीं थकते कि हमें युद्ध से कोई प्रेम नहीं है, हम शीघ्र से शीघ्र युद्ध-संस्था को दुनिया के पर्दे पर से मिटा देना चाहते हैं । इस तरह दुनिया में लड़ने का शौक किसी को नहीं है, लेकिन सभी लड़ते हैं । युद्ध का अन्त सब कोई शीघ्रातिशीघ्र करना चाहते हैं, तिस पर भी आयेदिन युद्ध हो जाते हैं । युद्ध की तैयारी करने में किसी को दिलचस्पी नहीं है, फिर भी सरगर्मी के साथ तैयारियाँ जारी रहती हैं। अब बतलाइये कि इसमें आदमी का क्या अपराध है ?

इमानदारी की शर्त

बुनियादी दोष तो यह है कि डरपोक के सिवा दूसरा कोई अपने-आप को झगड़ालू कहलाने में अभिमान नहीं मानता। सभ्यता का दावा करनेवाले जितने व्यक्ति या राष्ट्र हैं, वे दूसरे को हमलावर करार देने में और वैसा साबित करने में अपने-आप को कृतार्थ समझते

हैं । सभी एक-दूसरे को आक्रमणकारी भले ही कहते रहें, लेकिन वह हकीकत नहीं हो सकती ।

हकीकत तो यही हो सकती है कि इनमें से कोई न कोई आक्रमणकारी है। लेकिन वास्तविक आक्रमणकारी का पता तभी चल सकता है, जब सब मिल कर यह अटल प्रतिज्ञा कर लें कि कोई किसीको आक्रमणकारी नहीं बतलायेगा, ईमानदारी से आक्रमणकारी न बनने का हर कोई निश्चय कर लेगा। हमारे आंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रामाणिकता दाखिल करने की यह अनिवार्य शर्त है। जब तक सभी एक-दूसरे को आक्रमणकारी कहते रहेंगे, तब तक अप्रामाणिकता और दंभ का बाजार गर्म रहेगा।

बातों और कृति का दुराव

किसी सप्ताह में शस्त्रास्त्रों के नियंत्रण के विषय में यूनो का जो प्रस्ताव हुआ, उस पर अमेरिका के अध्यक्ष हैरो ट्रमन और रूस के प्रतिनिधि विशिन्स्की के जो भाषण हुए, उनसे मालूम होता है कि एक-दूसरे को आक्रमणकारी बतलाने का यही खेल फिर से खेला जा रहा है। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रान्स यूनो के प्रमुख सदस्य और नेता हैं । वे चाहते हैं कि संसार में शस्त्रास्त्रों का उत्तरोत्तर नियंत्रण होता जाय और अंत में सार्वत्रिक निःशस्त्रीकरण हो। हरएक राष्ट्र अपने पास उतनी ही फौज और हथियार रखे, जितने कि उसकी हिफाजत के लिए आवश्यक है। जवाब में विशिन्स्की कहते हैं कि शस्त्र-नियंत्रण से काम नहीं चलेगा, निःशस्त्रीकरण ही होना चाहिए और इसके लिए कोरिया से दोनों दलों को अपनी-अपनी फौजें हटा लेनी चाहिए। कोरिया में ३८वीं समानांतर रेखा के परे न अमेरिका की फौज रहेगी और न रूस या चीन की । विशिन्स्की ने यह भी सुझाव पेश किया कि १९५२ के जून में या उससे पहले एक जागतिक निःशस्त्रीकरण परिषद् भी बुलायी जानी चाहिए। सारांश, ट्रूमन कहते हैं कि हम तो फौज और हथियार नहीं रखना चाहते, लेकिन कम्युनिस्ट-

साम्राज्यवाद का जो खतरा हमारे सिर पर लटक रहा है, उसका मुकाबला करने के लिए हमें पूरा-पूरा बंदोबस्त रखना पड़ता है। उधर रूसी प्रतिनिधि कहते हैं कि अतलांतिक दलवालों की नीयत साफ नहीं है। ये लोग शस्त्र-नियंत्रण की बात करते हैं, पर शस्त्रनिषेध के लिए तैयार क्यों नहीं होते ?

इतिहास अपने-आप को दुहराता है

पहले महायुद्ध के बाद से यही खेल बराबर जारी रहा है। परास्त जर्मन राष्ट्र के निःशस्त्रीकरण की बात विजयी राष्ट्रों ने सबसे पहले कही । यह स्वाभाविक ही था कि यह योजना निःशस्त्रीकरण की नहीं, बल्कि जर्मनी को हतबल बनाने की थी। लीग ऑफ नेशन्स ने वेर्साई की संधि के बाद ही शस्त्रास्त्रों के नियंत्रण की आवश्यकता के बारे में प्रस्ताव किया था। १९२५ में लोकानो की संधि के बाद निःशस्त्रीकरण परिषद् बुलाने के लिए एक कमीशन कायम किया गया। इस कमीशन ने अपनी योजना पेश करने के लिए ५ साल लिये। १९३० में उनकी योजना का कच्चा चिट्ठा तैयार हुआ। २४ जनवरी, १९३१ को कॉन्फरेन्स बुलाने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और २ फरवरी, १९३२ को ऑर्थर हंडरसन की अध्यक्षता में यह परिषद् हुई । उस वक्त भी रूस ने यह कहा कि निःशस्त्रीकरण की कोई कारगर योजना काम में लानी चाहिए। जर्मनी ने कहा कि जब तक हमारा राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की बराबरी पर नहीं आ जाता, तब तक हमारे लिए निःशस्त्रीकरण का सवाल ही नहीं उठता । फ्रांस ने कहा, “नियंत्रण तो चाहिए, लेकिन हम अपने राष्ट्रीय आत्मरक्षण की उपेक्षा नहीं कर सकते और फिर हमको अपने उपनिवेश के रक्षण के लिए भी सेनाएँ रखनी पड़ती हैं।" इस तरह हरएक ने एक-एक चोर-दरवाजा खोल लिया। २३ जुलाई, १९३२ को ३ महीने के लिए यह परिषद् मुल्तवी हुई। १४ अक्तूबर,१९३३ को जर्मनी ने परिषद् छोड़ दी और वह अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गयी।

इस परिषद् में जो योजना और सुझाव रखे गये थे, उनमें और अध्यक्ष ट्रूमन तथा यूनो के सुझावों में बहुत बड़ी समानता है। उस निःशस्त्रीकरण परिषद् का उद्देश्य भी शस्त्रास्त्रों को मर्यादित करना और कम करना ही था। अब जो सुझाव यूनो तथा अध्यक्ष ट्रूमन की तरफ से किये जा रहे हैं, उनमें भी मुख्य सुझाव यह है कि हरएक राष्ट्र को सबसे पहले बतला देना चाहिए कि उसके पास कितने और किस तरह के हथियार हैं । फिर इन हथियारों की जाँच-पड़ताल एक आन्तर्राष्ट्रीय कमीशन करेगा । जिस राष्ट्र के हथियारों की जाँच-पड़ताल होगी, उस राष्ट्र के व्यक्ति जाँच करनेवाले इन्स्पेक्टरों में शामिल नहीं रहेंगे। कौन-सा राष्ट्र कितनी फौज रखे, कितने हथियार रखे और अपनी राष्ट्रीय आमदनी का कितना हिस्सा फौज रखने में तथा हथियार तैयार करने में खर्च करे, ये सार बातें यह कमीशन तय करेगा।

डाली पर बैठ कर तने को काटना

इन सब सुझावों पर पानी फेरनेवाली बात अध्यक्ष ट्रूमन ने कह दी है। उनका कहना है कि जब तक कम्युनिस्ट-साम्राज्यवाद का संकंट सिर पर मँडरा रहा है, तब तक हमको माकूल तैयारी तो रखनी ही होगी । हम संसार में शान्ति की स्थापना करना तो चाहते हैं, लेकिन भला, सुरक्षितता की जरूरत कैसे भूल सकते हैं ।

यह बूता ही दूसरों का है

बुनियादी बात यह है कि शस्त्रास्त्रों का नियंत्रण या त्याग वही कर सकेगा, जिसके सीने में ज्यादा से ज्यादा हिम्मत होगी । जिसमें बहादुरी और ईमान अधिक मात्रा में होगा, वही राष्ट्र दुनिया के कल्याण के लिए पहला कदम उठायेगा। तब तक परस्पर-आरोप-प्रत्यारोप के सब खेल जारी रहेंगे ।

१३-११-१९५१

८. छोटे राष्ट्रों की दुर्दशा

कोरिया का जो विध्वंस हुआ, उसका नतीजा यह है कि अब कोरिया के उद्धार का सवाल ही बाकी नहीं रह गया है। उसके कलेवर के दो टुकड़े होंगे या वह अधमरी हालत में समूचा रहेगा, इसका फैसला करने की स्वतंत्रता भी अब उसे नहीं है। चिड़िया का घोंसला बचाने के लिए दो हाथी आपस में लड़ पड़े। दोनों पेड़ को अपनी-अपनी तरफ खींचने लगे। पेड़ उखड़ गया। घोंसले को बचाने का सवाल ही नहीं रहा। सीरिया और मिस्र देश में जो घटनाएँ घट रही हैं, उनका सम्बन्ध पाकिस्तान, तुर्किस्तान और अमेरिका के गठबंधन से नहीं है, इसका विश्वास कोई नहीं दिला सकता। वहाँ यूरोप में जर्मनी की यही दुर्दशा हो रही है। एक कहता है कि जर्मनी को हथियारबन्द करना चाहिए। दूसरा कहता है कि उसका निःशस्त्रीकरण होना चाहिए।

अमेरिका का यूरोप में प्रभुत्व

ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स में परराष्ट्रीय नीति पर जो बहस हुई, उसमें एक सदस्य ने बड़ी पते की बात कही । उसने बहुत स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि सवाल जर्मनी के पुनःशस्त्रीकरण का नहीं है। पुनःशस्त्रीकरण तो होने ही वाला है। झगड़े की असली जड़ यह है कि पुनःशस्त्रीकरण कौन करेगा ? यूरोप के देश करेंगे कि अमेरिका करेगा ? सब कुछ पढ़ने और सुनने पर दिल पर यह असर रह जाता है कि अमेरिका का यूरोप पर बढ़ता हुआ प्रभाव यूरोपीय राष्ट्रों को अखरता है। वे अपनी टाँगों पर खड़े होने की योजनाएँ बना रहे हैं । रूस पश्चिमी यूरोप में पैर रखने की जगह की फिराक में है । इस तरह यह सवाल काफी पेचीदा हो रहा है। आउस ऑफ कॉमन्स में उपरोक्त सदस्य ने कुछ तिनक कर कहा, "आज संघरूप केवल मतवादों का नहीं है। पेटों का भी है।"

ऐसी परिस्थिति में जब कि सबको एक-दूसरे के भरोसे की पहले के किसी जमाने से कहीं ज्यादा जरूरत है, कोई किसीका भरोसा नहीं कर सक रहा है। सब नेकी जतला रहे हैं। नेकी बरतने की नीयत किसी की नहीं है।

राजाजी की मीमांसा

हमारे अपने देश में परिस्थिति की मीमांसा एक मँजे हुए अनुभव-वृद्ध राज्यनेता, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने की। उन्होंने कहा कि हम अमेरिका की नीयत पर शक नहीं करते। वह शिष्टाचार के खिलाफ है। लेकिन जर्मनी से लेकर पाकिस्तान तक आयेदिन जो करिश्मे दिखाये जा रहे हैं, उनका एक नतीजा तो हर हालत में होने ही वाला है। अमेरिका की नीयत बहुत साफ होगी । पाकिस्तान की भी बहुत साफ होगी। वह किसी पर हमला नहीं करना चाहता होगा। परन्तु वह अपनी ताकत बढ़ा कर अपने शब्दों का वजन बढ़ाना चाहता है । लड़ाई भले ही न करनी पड़े । लेकिन बातचीत और समझौता तो करना ही पड़ेगा। बातचीत और समझौते में जिस तरफ वजन रहेगा, उस तरफ काँटा झुकेगा।

भारत भी यह सब समझता है। वह भी अपने शब्दों का वजन बढ़ाने की कोशिश करेगा। फलस्वरूप सेना का खर्च और सेना बढ़ाने की चिंता उसे अधिक होगी। राष्ट्र-विकास के कार्यक्रमों में जो पैसा खर्च किया जाता, वह अब फौज के मद में खर्च करना पड़ेगा। इस प्रकार अमेरिका ने ऐशिया में युद्ध के बीज बोना शुरू कर दिया है। राजाजी जैसे सूक्ष्मदर्शी राजनीतिज्ञ ने संसार का ध्यान इस तरफ दिलाया। जर्मनी के बारे में भी रह-रह कर यूरोप के कुछ विचारवान् लोक नीतिज्ञों के मन में यह प्रश्न उठता है कि जर्मनी को अपनी आमदनी का ज्यादा हिस्सा अगर फौज पर खर्च करना पड़े, तो आर्थिक दृष्टि से वह तरक्की नहीं कर सकेगा। कूटनीतिज्ञ इसमें अपने लिए मौका देखते हैं।

राष्ट्रपिता का संकेत

जब हम यह सारी परिस्थिति भली-भाँति ध्यान में लेते हैं, तब भारत की परराष्ट्रीय नीति का रहस्य हम पर प्रकट होता है । सावधानी की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता दृढ़ निश्चय और अचूक निर्णय की भी है। भरोसा किसीका नहीं किया जा सकता और अकेला अलग-अलग रहा नहीं जा सकता। सबके साथ चलना है। एक तरफ 'मतवाद' है और दूसरी तरफ सम्प्रदायवाद से अनुचित लाभ उठाने की कोशिश हो रही है। भारत को और एशिया को इन दोनों से बचकर साधारण मानव का रास्ता प्रशस्त करना है, जिसका संकेत हमारे राष्ट्रपिता ने किया था। उन्होंने बहुत बड़ी दूरंदेशी के साथ हमको आगाह किया था कि यदि भारत असफल हुआ, तो एशिया खतम हो जायेगा। रोज बदलती हुई परिस्थिति में ध्रुवतारे की तरह उनका यह संकेत हमारी आँखों के सामने अटल रहे। जो राजनीतिज्ञ और व्यवहार-चतुर राजनेता एक-दूसरे पर विश्वास नहीं कर सकते, वे सारे जगत् के मनुष्यों को साथ-साथ हिल-मिल कर रहना कैसे सिखा सकते हैं ? सत्ता की होड़ में से रोज राज्यकर्ता भले ही बदलते रहें, लेकिन जरूरत तो मनुष्यों की भावना और मनोवृत्ति में परिवर्तन करने की है । इसे गांधीजी 'हृदय-परिवर्तन' का रास्ता कहते थे। आग की परिस्थिति की आकांक्षा 'हृदय-परिवर्तन' की क्रांति की है । भारत यदि संकल्प कर ले, तो उस आकांक्षा की पूर्ति का रास्ता अपना सकता है । इसी में उसका कल्याण और एशिया की कुशल है।

१२-३-१९५४

९. जागतिक शान्तिपाठ की वास्तविकता

सुसंगतता का दोष

हम यह मानते हैं कि सुसंगतता गधे का धर्म है ! मनुष्य तो बुद्धिवादी प्राणी ठहरा। उसे सुसंगतता से कोई मतलब नहीं है। औपचारिक तर्कसंगति के हम भी कायल नहीं हैं । लेकिन किसी प्रकार की संगति का जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहा तो अनवस्था प्रसंग आयेगा, यह भी उतना ही स्पष्ट है।

शान्ति के लेबुल

अमेरिका और उसके गिरोह के राष्ट्र कहते हैं कि हम तो विश्वशान्ति के देवदूत ही हैं। रूस कहता है कि अमेरिका की शान्ति पूँजीवादी छाप है, इसलिए असल में वह शान्ति नहीं है। अमेरिका कहता है कि रूस की क्रान्ति लाल सुर्ख है, इसलिए वह रक्त-रंजित है। हमें तो पूरा-पूरा विश्वास है कि एक दिन रूस के वैज्ञानिक यह अविष्कार करेंगे कि अमेरिका में जो केला होता है, वह कड़आ होता है और अमेरिका के वैज्ञानिक यह आविष्कार करेंगे कि रूस में जो शक्कर बनती है, वह खारी होती है। हम मजाक नहीं कर रहे हैं । जो हो रहा है, उसीको साधारण लोगों की भाषा में अनुवाद कर रहे हैं।

अमेरिका की अप्रामाणिक नीति

जरा देखिये, क्या कैफियत है । आन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस की अपेक्षा अमेरिका अधिक युयुत्सु है। इस बात से इन्कार करने में कोई मतलब नहीं है। साल-दो साल पहले रूस युद्ध की सामग्री में और युद्ध की सामर्थ्य में अमेरिका से निश्चित रूप से श्रेष्ठ था। आज भी उस स्थिति में बहुत ज्यादा अन्तर नहीं पड़ा है। फिर भी वह आक्रमण क्यों नहीं करता ? कारण चाहे कुछ भी क्यों न हो, इतनी बात साफ है कि रूस आक्रमण करना उचित नहीं समझता।

अमेरिका की वृत्ति किसी-न-किसी कारण अधिक युद्ध-प्रवण है । वह कम्यूनिज्म को जागतिक संस्कृति का दुश्मन मानता है, इसलिए उसका संहार करना चाहता है । परन्तु अपने देश में और अपने गिरोह के दूसरे देशों में सामाजिक तथा आर्थिक क्रांति की लगन उसे कतई नहीं है। परिणाम यह है कि अमेरिका को और उसके साथियों को भीतरी शान्ति चाहिए और बाहरी युद्ध चाहिए । अन्तर्गत शान्ति और आन्तर्राष्ट्रीय युद्ध अमेरिका की कम्यूनिस्ट विरोधी नीति का सूत्रवाक्य है।

रूस की असंग नीति

उधर रूस के प्रवक्ता कहते हैं कि संसार में कम्यूनिस्ट राष्ट्र और पूँजीवादी राष्ट्र पारस्परिक स्नेह के साथ एक ही समय विद्यमान रह सकते हैं। दोनों की नीति एक-दूसरे के प्रति विवेकयुक्त अविरोध की हो सकती है, इसलिए रूस और उसके सारे अनुगामी जगह-जगह विश्व-शान्ति के प्रचार के लिए सभा-सम्मेलनों का आयोजन कर रहे हैं। लेकिन उनका यह आग्रह नहीं है कि हरएक देश में भीतरी शान्ति भी रहनी चाहिए। बल्कि सामाजिक और आर्थिक क्रांति के शान्तिमय साधनों में उनका तनिक भी विश्वास नहीं है। वे हरएक देश में सशस्त्र संघर्ष की गुप्त तैयारियाँ कराने में गौरव और धन्यता का अनुभव करते हैं। राज्य-यंत्र को भीतर से सुरंग लगाना, गुप्त षड्यन्त्रों से अनेक विध्वंसक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना आदि को वे अपनी क्रान्ति-प्रक्रिया का एक शास्त्रविहित अंग मानते हैं । इसलिए उन्हें बाहर शान्ति चाहिए और भीतर कलह । आन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और अन्तर्गत युद्ध उनकी पूँजीवाद-विरोधी नीति का सूत्रवाक्य है।

कम्यूनिस्टों से निवेदन

अमेरिका का शान्ति-पाठ अवास्तविक और दांभिक है, इसमें कोई शक नहीं । जब तक सामाजिक विषमता है और भूख तथा गरीबी मनुष्यों का संहार कर रही है, तब तक

'मुख से रामनाम' का जप करने में आत्मवंचना है और राम का निरादर है। कम्यूनिस्ट राष्ट्रों की नीति कार्य-रूप में परिणत होने के लिए उन्हें आन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की आवश्यकता है लेकिन बाहर शान्ति और भीतर आशान्ति का उनका सूत्र जितना असंगत, उतना ही अप्रामाणिक भी है। कम्यूनिज्म को हमने नये जमाने का और नयी जिन्दगी का प्रवर्तक माना है, इसलिए जब वह शान्ति की तरफ कदम बढ़ाता है, तब पुराणमतवादी राष्ट्रों की अपेक्षा हम उससे अधिक सुसंगतता और विवेक की आशा करते हैं। कम्यूनिस्टों से हमारा अनुरोध है कि वे आन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रचार के साथ-साथ अन्तर्गत शान्ति का भी आग्रह रखें और अन्याय के प्रतिकार के शान्तिमय साधन अधिक शास्त्रशुद्ध तथा अमोघ बनाने में अपने विज्ञान और पुरुषार्थ का विनियोग करें । अन्यथा उनका शान्ति-पाठ भी वदतोव्याघात (अपनी बात आप ही काटना) सिद्ध होगा।

धनतोली, नागपुर १३-११-१९५२

१०. बेरिया काण्ड

गांधीजी ने जब सत्य और अहिंसा को एक ही सिक्के के दो पहलू बतलाया तो हमारे देश के और अन्य देशों के कई विद्वानों और दार्शनिकों ने कहा कि सत्य और न्याय की स्थापना के लिए अगर हिंसा का आश्रय लेना पड़े तो लेना चाहिए। हमारे देश के कुछ पराक्रमशाली नेता इसे 'शुद्ध सत्याग्रह' या 'अहिंसा-आग्रह-रहित सत्याग्रह' कहते थे। विनोबा से भी उन दिनों कई लोग इस बात की चर्चा किया करते थे। एक बार तो विनोबा ने उन्हें चुनौती दे दी कि झूठ का सहारा लिये बिना आप युद्ध करके दिखा दीजिये, तब शायद आपकी बात हम मानें । इस पर शस्त्रवादियों ने कहा कि युद्ध में समर-चातुरी के लिए जो युक्ति-प्रयुक्ति और छल-प्रपंच करना पड़ता है, वह असल में असत्य नहीं, सत्य का ही एक पर्याय है। इस नीति का सूत्र है—"नीयत साफ हो तो चाहे जिस हिकमत से काम लेने में हर्ज नहीं ।" जो लोग तानाशाही या डिक्टेटरशिप का समर्थन करते हैं, उनकी दलील भी कुछ इसी तरह की होती है।

रूस में किसान-मजदूरों की तानाशाही कायम हुई। कहा जाता था कि यह तानाशाही किसी दल, गिरोह या व्यक्ति का नहीं है, यह श्रमिक वर्ग का अधिराज्य है। परन्तु अनुभव बिलकुल विपरीत हुआ। यह दावा मिथ्या साबित हुआ। पहला उदाहरण ट्रास्टकी का हुआ। उसके बाद 'शुद्धिकरण' (पर्जिंग) के प्रयोग हुए। इन सब उदाहरणों से यह बात साबित हुई कि डिक्टेटरशिप में दो बराबरी के व्यक्ति साथ-साथ नहीं रह सकते, चाहे उनका ओहदा भले ही एक न हो। लेकिन यदि उनकी शक्ति, सत्त्व और 'प्रत्यक्ष अधिकार' तुल्य है, तो उनमें से एक को खत्म होना ही पड़ेगा । पुराने राजवंशों में गद्दी के हकदार में इसी प्रकार की असूया, ईर्ष्या रहा करती थी। भाई-भाई में कट्टर वैर होता था। यही दोष तानाशाही में भी पाया जाता है।

आज ही समाचार-पत्रों में यह समाचार निकला है कि रूस के गृहमंत्री बेरिया को अधिकार-पद पर से निकाल दिया गया। उन पर गंभीर आरोप किये गये हैं। एक आरोप तो बड़ी आसानी से किया जाता है और किया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति पूँजीवाद का हिमायती है और प्रतिक्रांति का प्रतिहस्तक है । लोगों का यह ख्याल था कि स्टालिन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में आपस में कोई मनमुटाव या रगड़-झगड़ नहीं है। रूस से लौट कर आये हुए कुछ प्रत्यक्षदर्शी व्यक्तियों ने यह आशा प्रकट की कि अब रूस में व्यक्ति का अधिनायकत्व शिथिल हो रहा है। आज रूस की सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में नहीं है; बल्कि एक 'गिरोह' (टीम) के हाथ में है। इस 'टीम' में कम-से-कम तीन-चार व्यक्ति सत्ता और शक्ति में तुल्यबल हैं, इसलिए यह आशा की जाती थी कि अब रूस में चुस्त डिक्टेटरशिप नहीं रहेगी। परंतु हिंसा का दुष्ट चक्र एक बार प्रवर्तित होने पर फिर उसकां अंत नहीं आता।

बेरिया का प्रकरण सारे संसार के अनियंत्रित सत्तावादियों के लिए और हिंसात्मक क्रांति के पक्षपातियों के लिए एक गंभीर चेतावनी है। कया संसार के क्रांतिकारी इससे सबक सीखेंगे ?

११-७-१९५३

११. कश्मीर का मामला

कश्मीर के मामले में शुरू से ही जवाहरलालजी का दो बुनियादी बातों के बारे में उचित आग्रह रहा है। एक तो यह कि पाकिस्तान के निर्माण के बाद भी भारत द्विराष्ट्रवाद का सिद्धान्त मानने को तैयार नहीं है और दूसरा यह कि कश्मीर के प्रश्न का फैसला वहाँ की जनता की इच्छा के अनुसार होना चाहिए। ये दोनों जनतन्त्र के प्राणभूत तत्त्व हैं । कश्मीर में भारत ने द्रव्य और शक्ति का जो व्यय किया वह भी इन्हीं सिद्धान्तों की स्थापना के लिए किया है। यदि कश्मीर की जनता भारतीय गणराज्य में रहने का निर्णय कर लेती है तो द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात होता है, यदि ऐसा हुआ तो भारत को जो कीमत देनी पड़ी, वह अत्यधिक नहीं मानी जायेगी ।

अखबारों में कश्मीर के बारे में आयेदिन अजीबोगरीब खबरें निकल रही हैं। पिछले दिनों कुछ विदेशी समाचारपत्रों ने तो ऐसा कयास प्रकाशित किया है कि कश्मीर के तीन टुकड़े होंगे। अब तक पाकिस्तान के प्रधान मंत्री और भारत के प्रधानमंत्री, दोनों ने कहा है कि यह अटकल बेबुनियाद है। भगवान् करें और वस्तुस्थिति भी यही हो । पाकिस्तान और भारत का संबंध मित्रता का रहे यह सभी दृष्टियों से वांछनीय है । दोनों तरफ से इसकी कोशिश भी हो रही है, परन्तु मूलभूत तत्त्वों का त्याग करके यदि कोई समझौता किया जाता है तो उससे फायदे की अपेक्षा नुकसान ही अधिक होता है। आखिर मित्रता भी किसी एक सामाजिक सिद्धान्त की स्थापना के लिए होती है। मित्रता के लिए कोई मनुष्य अपनी आत्ममर्यादा की कीमत नहीं देगा। कोई स्त्री अपने चारित्र्य की कीमत नहीं देगी और कोई राष्ट्र अपने स्वत्व की कीमत नहीं देगा।

पाकिस्तान के निर्माण की चर्चा जिस समय हो रही थी उस समय कायदे-आजम जिन्ना का भी यही आग्रह था कि “जनता का मत लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मुसलमान अपने में एक स्वतंत्र राष्ट्र हैं और अपना एक अलग राज कायम करना उनका पैदाइशी हक है । इसमें इनकी राय लेने की जरूरत ही क्या है ?" परंतु कश्मीर, हैदराबाद, जूनागढ़ जैसे सभी विवादग्रस्त क्षेत्रों के बारे में भारत ने यह नीति अख्तियार की कि उन क्षेत्रों की जनता ही अपने भविष्य का निर्णय करे। इसी नीति के अनुसार जवाहरलाल ने किसी भी आंतर्राष्ट्रीय पंच का अधिकार मानने से दृढ़तापूर्वक इन्कार किया । हमारी नीति का यह बुनियादी उसूल है और भारतवर्ष के लोगों की यह अपेक्षा है कि किसी भी समझौते के लिए उस उसूल को धक्का नहीं लगने दिया जायेगा। कश्मीर की जनता पाकिस्तान में शामिल होना चाहती है या भारत में शामिल होना चाहती है, या कश्मीर के अलग-अलग हिस्से अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार भारत या पाकिस्तान में शामिल होना चाहते हैं, इसका निर्णय इन क्षेत्रों की जनता ही करे। पाकिस्तान और भारत के प्रधान मंत्री अथवा अन्य कोई नेता कश्मीर की भूमि का और जनता का बँटवारा कर दें, यह बात न्याययुक्त नहीं होगी । अगर हमें ठीक याद है तो जवाहरलालजी एक बार यहाँ तक कह चुके हैं कि पाकिस्तान के निर्माण के बारे में जो गलती हुई वह कश्मीर के बारे में नहीं होगी । आज, जब कि दोनों राष्ट्रों में संधि की चर्चा चल रही है और दोनों राष्ट्रों के प्रधान मंत्रियों की मित्रतापूर्ण भेंटें हो चुकी हैं, हम कोई संदेह प्रकट करना नहीं चाहते । परन्तु भारत की अंगीकृत नीति का स्मरण दोनों पक्षों को अवश्य दिलाना चाहते हैं ।

अमेरिका की तो नजर ही कम्यूनिज्म के डर से दूषित हो गयी है। एक प्रमुख अमेरिकन व्यक्ति ने कश्मीर के मामले के सिलसिले में यह कहा है कि भारत और पाकिस्तान को कम्यूनिज्म से जबरदस्त खतरा है। डर के मारे जो नीति अपनायी जाती है, वह अंतत: सत्यानाश किये बिना नहीं रहती । एक अमेरिकन हमसे कहता है कि कम्यूनिज्म से बचो। दूसरा एक अंग्रेज हमसे कहता है कि कम्यूनिस्ट-राष्ट्र और लोकशाही राष्ट्र साथ-साथ अमन-चैन से रह सकते हैं। यह अंग्रेज हमें विश्वास दिलाता है कि रूस में प्रत्यक्ष

परिस्थिति देख कर उसने यह पाया कि रूस की नीयत साफ है। डर और लालच की प्रेरणा सर्वनाश की प्रेरणा है। यदि हम कम्यूनिज्म के डर से जनतंत्र के मूलभूत सिद्धान्त का ही त्याग कर देते हैं, तो फिर हम कम्यूनिज्म का विरोध किस बुनियाद पर करते हैं ? हमारा जनतन्त्र भी कम्यूनिज्म का एक पर्याय होगा। सिर्फ उसका 'उपनाम' जनतंत्र रहेगा।

अंग्रेजी राज के जमाने में कश्मीर भारत का ही हिस्सा था। वह एक रियासत थी, लेकिन देहली की सरकार की मातहत थी। अंग्रेजों के बाद जो हिस्से पाकिस्तान में शामिल हो गये उनके सिवा बाकी के सारे हिस्से भारत के ही हिस्से बने रहे। इन्हीं में कश्मीर भी था। कश्मीर को उस वक्त की सरकार और लोकप्रतिनिधियों ने तो भारत में शामिल होने का फैसला भी कर लिया। इसलिए जब तक कश्मीर की जनता भारत से बाहर जाने का निर्णय नहीं करती, तब तक न्यायत: और वस्तुत: कश्मीर भारत का ही हिस्सा है।

कश्मीर का प्रश्न राज्य-तृष्णा का प्रश्न नहीं है। भौगोलिक दृष्टि से पाकिस्तान या भारत का क्षेत्रफल और राज्यसत्ता बढ़ाने की नीयत से उसका विचार नहीं होना चाहिए। इस तरह जमीन और लोगों का बँटवारा करने के दिन अब लद चुके। अब तो हमें दो बुनियादी उसूलों का ही आग्रहपूर्वक और प्रामाणिकता से संरक्षण करना है। एक—कश्मीर के भविष्य का निर्णय वहाँ की जनता करे। यह उसका न्याययुक्त अधिकार है। इस अधिकार के संरक्षण में कश्मीरी जनता के स्वत्व का संरक्षण है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि राज्य, राष्ट्र और नागरिकता का आधार संप्रदाय नहीं होना चाहिए। लोकराज्य सम्प्रदाय-निरपेक्ष राज्य का नाम है। इसलिए हम द्विराष्ट्रवाद को हरगिज स्वीकार नहीं कर सकते।

भारत के प्रधानमन्त्री ने अपने अन्तिम वक्तव्य में भी इस मूलभूत नीति का आग्रह रखा है। आशा है कि वे उस नीति का रक्षण अन्त तक करते रहेंगे।

३-८-१९५३

१२. विश्वशान्ति का मार्ग

बड़ों का ग्रास

सन् १९१४ में जब पहला जागतिक महायुद्ध हुआ, उस वक्त इंग्लैंड के मुख्य सेनापति अर्ल लॉर्बड्स ने अनेक वक्तत्व प्रकाशित किये। उन वक्तव्यों में से एक वक्तव्य ब्रिटिश साम्राज्य के बालकों के नाम था। वक्तव्य के प्रारम्भ में यह सवाल पूछा था: "साम्राज्य के बालकों ! हम क्यों लड़ रहे हैं ?" जवाब उस वक्तव्य में ही दिया गया था "हम इसलिए लड़ रहे हैं कि हम छोटे-छोटे राष्ट्रों पर जबरदस्ती नहीं होने देना चाहते !" और आज दूसरे महायुद्ध के बाद, दो बलवान् राष्ट्र अपनी मर्जी से छोटे-छोटे राष्ट्रों के खैरख्वाह और अभिभावक बनने का दम भर रहे हैं। अमेरिका और रूस दोनों मौका पाकर छोटे-छोटे राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व कायम करने की बराबर कोशिश कर रहे हैं। दोनों का दावा है कि इन छोटे राष्ट्रों को स्वतंत्र करने के लिए हम यह सारा परोपकार कर रहे हैं । लेकिन जिन छोटे राष्ट्रों के उद्धार के लिए यह सारा प्रयत्न हो रहा है, वहाँ की जनता की राय पूछने की परवाह किसी को नहीं है। कश्मीर में जो कुछ हुआ, उसके बारे में अमेरिका की शिकायत है कि यह सारी कम्यूनिस्टों की शरारत है। उधर ईरान के मामले में रूस को यह शिकायत है कि इस मामले में अमेरिका की साजिश है । इस तरह दोनों एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप कर रहे हैं । हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि ईरान, मोरोक्को आदि देशों में जो ज्यादा-से-ज्यादा बल-प्रयोग कर सका, उसका सिक्का चल गया। स्वतन्त्रता और परोपकार के नाम पर सत्तावाद का यह जो भीषण तांडवनृत्य दुनियाभर में चल रहा है, वह हमको एक ही सबक सिखाता है कि सत्तावादी किसी भी देश को आजाद नहीं रहना देना चाहते। वे सबकी किस्मत का फैसला करने का अधिकार अपने ही हाथ में रखना चाहते हैं । इसके लिए

रिश्वत और जोर-जबरदस्ती से काम लेने में वे नहीं हिचकते । यहाँ सिद्धान्त, नीति और तत्त्व का प्रश्न ही नहीं है।

छोटों को जीने दें

दुनिया के लिए इन घटनाओं का यह पाठ है कि मानवीय जीवन-मूल्यों की स्थापना अगर तलवार के भरोसे की जायगी, तो जिसके हाथ में पैनी तलवार होगी, उसकी सत्ता चलेगी, और तत्त्व किनारे रह जायेंगे । एक तरफ तो अमेरिका और रूस दोनों सुलह और समझौते के रास्ते से अन्तर्राष्ट्रीय मसलों का फैसला करना चाहते हैं, और दूसरी तरफ जहाँ मौका मिले, वहाँ अपना कदम रोपने की कोशिश भी बराबर करते रहते हैं। यह जागतिक शान्ति का रास्ता नहीं है। यह रास्ता खुराफात और लड़ाई-झगड़े का है। रूस और अमेरिका, दोनों संसार का सबसे बड़ा उपकार एक ही बात से कर सकते हैं कि वे एशिया और यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्रों को अपनी मर्जी के मुताबिक जीने दें और अपनी अकारण कृपा उन पर न लादें।

जिस आजादी को दूसरे किसी की पनाह लेनी पड़ती है, वह आजादी नहीं है बल्कि बहुत खतरनाक गुलामी है, जो आजादी के लिबास में हमको धोखा देना चाहती है। ऐसी मायाविनी के मोह से बचने के लिए जिस विवेक की आवश्यकता है, वह शस्त्र-निष्ठा में से कभी निष्पन्न नहीं हो सकता।

हमें किसी को भला-बुरा कहने से मतलब नहीं है, लेकिन इतनी चेतावनी मित्रता के भाव से दे देना जरूरी है कि यह रास्ता विश्वशान्ति का नहीं, विश्व-कलह का है।

८-९-१९५३

१३. स्वागत

भारत के नक्शे पर फ्रेंच-सत्ता के अवशेष भद्दे धब्बों की तरह सभी को खटकते थे। अंग्रेजों ने जमाने का रुख तोड़ लिया। उसके साथ अपना रुख मिला दिया। नतीजा भारत और इंग्लिस्तान, दोनों के लिए मुफीद हुआ। फ्रांस ने बहुत देर कर दी। इतिहास गवाही देता है कि बुद्धिमानी में इंग्लैंड से फ्रांस कुछ पीछे रह जाता है। अपने मन का निश्चय वह सही वक्त पर नहीं कर पाता । परिणाम यह निकला कि भारत पर फ्रांसीसियों का झंडा नहीं फहर सका। अंग्रेजों का झण्डा बुलन्द हो गया। सात साल पहले अंग्रेजों ने अपनी सत्ता भारत के प्रतिनिधियों को सौंप दी और उनके धन्यवाद जेब में रख कर शान से विलायत के लिए प्रस्थान किया। फ्रांस को भी उसी वक्त सद्बुद्धि होती तो ?

परन्तु विधाता का विधान कुछ और ही था। शायद उसकी यह योजना थी कि फ्रेंच-सत्ता में रहनेवाले भारतीयों को कीमत अदा करने के बाद ही आजादी मिले। अपनी कमाई हुई चीज की कीमत कौन नहीं जानता ? सात साल तक फ्रेंच-सत्ता के अधीन रहनेवाले भारतीयों ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए जो त्याग और पुरुषार्थ किया, वह फिजूल नहीं जायेगा। आज जो स्वतन्त्रता उन्हें मिली है, उसको सुरक्षित रखने में और स्वराज्य की जिम्मेवारियाँ पूरी करने में वह उपयोगी साबित होगा । हम कृतज्ञतापूर्वक और प्रसन्नतापूर्वक विधाता को धन्यवाद देते हैं और जनता को बधाइयाँ देते हैं।

'अकरणान् मंद करणं श्रेय:' न करने की अपेक्षा देर से करना अच्छा । सात साल के बाद ही क्यों न हो, फ्रांस ने अपने साम्राज्यवाद के अवशेष स्वतंत्र भारत की पवित्र भूमि पर से हटा दिये। इसके लिए वह बधाई का पात्र है। लड़ाई का दोनों पक्षों के लिए शुभकारक अन्त हो जाने पर किसी पक्ष के मन में कोई कटुता या असद्भाव नहीं रहना चाहिए। पिछले

विरोधों को भूलने की कोशिश दोनों को करनी चाहिए। खेल में दोनों एक-दूसरे को त्रिवार बधाई (थ्री चीअर्स) देते हैं। वही हमारी भी वृत्ति होनी चाहिए।

परन्तु पोर्तुगीज-सत्ता का उन्माद अब तक कायम है। मसल मशहूर है कि नदी से नाला ज्यादा उमड़ता है। पोर्तुगीज-साम्राज्यवाद को याद रखना चाहिए कि विन्स्टन चर्चिल जैसे दु:साध्य साम्राज्यवादी को भी ब्रिटिश साम्राज्य के विसर्जन का साक्षी बनना पड़ा है। क्या पोर्तुगाल कालपुरुष की तहरीर नहीं पढ़ सकता ?

७-११-१९५४

अप्रैल-मई, १९५५

सर्वोदय के प्रणाम

'सर्वोदय १ अगस्त, १९३८ को शुरू हुआ। वह गांधी-सेवा संघ का मुखपत्र था। उस वाग्यज्ञ के अध्वर्यु-आचार्य काका कालेलकर थे । किशोरलालभाई जैसे मनीषि और दार्शनिक उसमें लिखते थे। उसका अपना एक स्थान था। १९४८ के बाद वह फिर शुरू हुआ। अबकी बार विनोबा उसके अध्वर्यु बने । 'भूदान-यज्ञ-आरोहण' ने उसे अनुप्राणित किया। सर्व सेवा संघ का मुखपत्र, 'भूदान-यज्ञ' का मुखपत्र बन गया। परन्तु पू. काकासाहब उसकी तरफ प्रत्यक्ष ध्यान दे सकते थे। पू. विनोबा के लिए वह असम्भव है। सारी जिम्मेवारी मुझ पर आ पड़ी। इस पवित्र और महान् कार्य के लिए आवश्यक पात्रता मुझमें कहाँ से आये! 'सर्वोदय' प्रचार का उपकरण नहीं है । वह तो वाड्मय-तप का साधन है। उसके लिए तपःपूत और संयत तथा प्रत्ययजन्य वाणी चाहिए। मैंने अपने को असमर्थ पाया । नम्रतापूर्वक अपनी अपात्रता सर्व सेवा संघ के सामने प्रकट की । मेरे पास समय का अभाव नहीं है। श्रमशक्ति का भी अभाव नहीं है। अभाव है योग्यता और क्षमता का। दुर्भाग्य तो यह है कि ऐसी परिस्थिति में 'सर्व सेवा संघ' ने 'सर्वोदय' बन्द करने का निर्णय पू. विनोबा के संकेत पर किया । सर्वोदय ने अपनी मर्यादा और कक्षा सम्भालने की कोशिश की । प्रगल्भ अभिरुचि को वह सन्तोष नहीं दे सका। उसका विसर्जन भी उनके मर्यादा-पालन का ही द्योतक है।

अब तक 'सर्वोदय' के पाठकों, हितैषियों और अभिभावकों ने जो अकारण कृपा और स्नेह रखा, उसके लिए कृतज्ञता प्रकाशन की एकमेव रीति है, मौनपूर्वक प्रणाम ।

—दादा धर्माधिकारी

* * * * *